

कल्पवृक्ष

शत्रुघ्नलाल 'शुक्ल'

हिन्दी सेवा सदन, मथुरा

“बस !”

“क्या ?”

“बस अब रुकेंगे।” कहकर आगे चल रहे भस्वारोही ने घोड़े की रास खींची। सबेन पाकर घोड़ा ठहर गया। भस्वारोही ने उसकी गर्दन धपधपाकर एक लम्बी साँस छोड़ी, फिर पीछे घूमकर अपने साथी की ओर देखा — “हम और घोड़े दोनों थक गए हैं। उतर पड़ो, रात बिताकर सबेरे चलेंगे।” और बाबबान के साथ ही घोड़े में उतर पड़ा।

साथी बदायित् अभी कुछ दूर और आगे तक चलने की सोच रहा था, इसलिए एक क्षण टिठका, किन्तु मित्र की कानान्ति की समझ कर उमने भी अपने घोड़े की गर्दन धपधपाई और उतर पड़ा।

दोनों घोड़े भार मुक्त होकर एक साथ हिनहिनाये, फिर बबान दूर वरन के लिए दधर-उधर टहलने लगे।

दुमरे भस्वारोही ने, जो अपनेसाहन अधिक स्पृनि और गधेन था, अपने साथी का बन्धा छूने हुए पूछा — “दम बियाबान में नीद था आणी ?”

प्रकाशक : हिन्दी सेवा संघ, भुवनेश्वर
सर्वाधिकार, अकाशिकापीन

मूल्य : छान रुपये पचास पैसे

प्रकाशनकाल : जनवरी १९६८

आवरण शिल्पी : प्रो. लक्ष्मण

मुद्रक : के० डी० कम्पोजिंग एजेन्सो द्वारा
अजय प्रिंटर्स, नवीन
शाहादरा, दिल्ली-३२

KALPVRIKSH : Növtel
trughna Lal Shukla

Rs. 3.00



है।”

मगग संबोधित होने वाले घट्यागोत्री ने अपना माया गाने
एक इधर-उधर दृष्टि फेरी; जैसे निदिपत बन रहा हो—स्थान
उपसुप्त और निरापद है न ?

उमका मायी, जो कुछ प्रौढ़ था, दोनों पोंछों की बागदोर एक
में बांधकर लम्बी करने लगा ।

गप्या जा चुकी थी । उमका स्थान रात्रि-रमणी ने ने मिया
था और अघनार की कानों पताका पहगनी हुई अपने घानक
नाम्राज्य का विस्तार कर रही थी । अगिल मृष्टि जैसे भवनीत हो
गई थी—नीरव, निस्पन्द; मानो, निष्प्राण हो । सर्वत्र एक गेमाच-
कारी नून्यता व्याप्त थी—वह नून्यता, जिगके मध्य किमी दाण,
किमी अघटित घटना की घानका निहित रहती है ।

सूर्यास्त के लगभग जिन पक्षियों ने मारे वायुमंडल को अपने
कलरवों में गुंजा दिया था, वे इस समय अपने-अपने नीहों में दुबके
पड़े थे । वायु भी मन्द हो चली थी । आलोटक और कृपक समुदाय
दिन-भर के श्रम से परास्त होकर अपने-अपने घरों में चुपचाप सोने
का उपभ्रम कर रहे थे । वृक्ष भी झूमना बन्द करके अपने महज
स्वाभाविक रूप में जड़वत् संबंधी शान्त-मौन खड़े थे । चातुदिक
एक ऐसी निष्क्रियता, नीरव क्लान्ति छाई हुई थी कि खोजने पर
भी चेतना और जागृति का चिन्ह मिलना कठिन था । हाँ, कुछ
निशापक्षी और वनजन्तु इसके अपवाद थे । वस्तुतः वे अन्धाकर-
नाम्राज्य के प्रहरी थे और इस नाते अपने कर्तव्य-पालन का प्रमाण
देने हेतु कभी-कभी अस्वाभाविक रूप में चीत्कार करके वायुमंडल
को कंपित कर देते थे ।

रात्रि का पहला पहर था और कृष्ण पक्ष की अष्टमी । चन्द्रमा
का कोई चिन्ह न था । आकाश में अनगिनत तारे झिलमिला रहे

थे; किन्तु उनके संयुक्त प्रकाश का अस्तित्व भी व्यर्थ था। घना-
सोक में फैना हुआ अंधकार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था। उसकी
गहनता, और भयकरता की वृद्धि होकर वामु और भी मन्द होने
लगी थी। भय का प्रभाव निष्क्रियताकारी होता है। जैसे मानव से
मानव मीत होता है, वैसे ही प्रकृति से प्रकृति भी। उस समय
अंधकार का विरोध करने की शक्ति किसी में भी न थी। जड़
और चेतन सब पराजय की अवसाद पीडा से व्याकुल थे।
निःशक्ति होकर मिर घुमने हुए, अपना अस्तित्व उस अमेष
अंधकार में विलीन करने जा रहे थे। कहीं क्या है, हमका कोई
सकेन तक नहीं प्राप्त हो रहा था। चागे और काने कुहाने की
भाँति छाया हुआ एकमात्र अंधकार, बस।

सब तक मगल साफा खोल चुका था। उसने अपने माथी से
पूछा — “गभू ! छोड़ो की नो तुमने अब रम्मी में बाँध दिया,
सब बरा अपने की भी बाँधोगे ?”

गभू ने उसका परिहास समझा नहीं। पूछा — “अपने की
क्या बाँधना ? दह पेड खड़ा है न, खलो उमी के नीचे सोयेगे।”

“पेड के नीचे ? यही मैदान में सोघी भाई। वही बोई जीव
जन्तु भी नो हो सकना है। यहाँ खुली हवा है। माथी गन के
बाद चन्द्रमा भी उदय हो जायगा।

गभू ने उसे अटवस्तु किया — “चिन्ता न करो। वह स्थान
निरापद है। गुप्त की नींद आणगी।

“ऐसे घने अंधरे में, बिना भली-भाँति टण्डे-समझे, तुम हम
जगल को निरापद कैसे कह रहे हो ? क्या पता उस पेड के नीचे
गोप की दाँबी हो, तब ?”

घरे नहीं भाई, इनका क्यों डरक हो ? वहाँ गाप का दाँबी
कुछ नहीं है। वह देवस्थान है। माथ में एक द्वार मेंना लगना

है, जिसमें दूर-दूर के यात्री दर्शन करने आते हैं।”

“किसका दर्शन ?” मंगल चकित हुआ।

“कल्पवृक्ष का।”

“कल्पवृक्ष !!”

“हाँ, इस पेड़ को कल्पवृक्ष कहते हैं। तुमने नहीं सुना ? यह तो सारे भारत में प्रसिद्ध है।”

“कथावाचकों के मुँह से किसी कल्पवृक्ष का नाम सुना था, जो मुँह माँगी वस्तुयें देता है। लेकिन वह कहाँ है, इसका पता कोई नहीं जानता। क्या यह वही कल्पवृक्ष है ?” मंगल के स्वर में जिज्ञासा-भाव प्रबल हो उठा था।

“वह नहीं यह दूमरा कल्पवृक्ष है।”

“तुमने दिन में कभी देखा है ?”

“कई बार। रात बीतने दो, सवेरे देखकर तुम भी चकित रह जाओगे।”

“अच्छा ! ऐसी कौन सी बात है इसमें ?”

“वह अपनी आँसों से देखना।”

“फिर भी कुछ तो बताओ।”

“यह वृक्ष कितना पुराना है, ठीक नहीं कहा जा सकता। कदाचित कई युग पुराना है, इसी से इसको कल्प-वृक्ष कहते हैं। इसमें एक गुण यह है कि इसकी एक भी डाल टूटी-फटी नहीं।

बढ़ते-बढ़ते आज यह इतना बड़ा हो गया है कि दूर से भी यगीचे का धम हो जाता है।”

“अद्भुत वृक्ष है।”

नीचे एक बड़ा-सा घबूतरा है। शरद पूर्णिमा को भूजन होना है और तीन दिनों तक इस सारे मैदान भारी मेला लगता है कि देखकर जान पड़ता है—काशी

अयोध्या जैसा कोई नगर है।”

मंगल का आश्चर्य मुक भाव से सोचना रहा—इतना अद्भुत प्रसिद्ध स्थान मैंने आज तक देखा ही नहीं। चलो, अच्छा हुआ कि आज यात्रा में देर हो गई; एक विचित्र और दुर्लभ स्थान को देख लूंगा।

शम्भू ने कहा—“चलो चले।” और घोड़ों की रास पकड़कर मामने की ओर चल पड़ा।

बौतूहलप्रस्त मंगल ने फिर कोई प्रतिवाद नहीं किया। वह भी उमके पीछे-पीछे चलने लगा।

अधकार के कारण शम्भू को भ्रम हो गया था। उमने वृक्ष जितना समीप जानकर घोड़े गोक दिये थे, वस्तुतः वह उमसे दूर था। लगभग पाँच-सौ पग चलना पड़ा तब दोनों उमके छाया-क्षेत्र में पहुँचे।

शम्भू कई बार उधर आ जा चूका था, हमनिष्ठा उमने कोई बौतूहल न था। उमने महत्त्व भाव से घोड़ों की रास एक डाल में बाँध दी और पैरों से टटोलकर एक समतल जगह मापा बिछा दिया। वह बहुत धब गया था। विश्राम की इच्छा में हाथ-पैर ढीले कर दिये और एक मन्दी मौम छोड़कर—जैसे, कोई भार उतारकर अलग रख दिया हो—सेट रहा।

मंगल भी सेट रहा, किन्तु वह शम्भू की भाँति बलान्त आशासन नहीं था। मुदक होने के कारण उमका शरीर अभी शक्ति मयल और सनेत्र था। शम्भू आशास की ओर मुँह किए चिन सेटा था। शान्ति शब्द की ओर मन गर्बदा तिहुँट-निश्चिन्त। इन्द्रियों को विश्राम देने के लिए वह इनने शान्ति भाव से पटा था, जैसे कोई शव हो। किन्तु मंगल की मनस्थिति हमसे भिन्नी थी। उमका मस्तिष्क न जाने किस ज्ञान-अज्ञान कल्पनाओं में उतारा हुआ था।

उसी छतार वृक्ष की ओर लगी हुई थी, जो अपनी सभ-
से अंधकार को और भी घटाटोप बना रहा था।

दूर कहीं बनेली झाड़ियों के फूल खिले हुए थे। उनकी सुगन्ध
भी-कभी वायु के शीतल भौकों के साथ आकर दोनों यात्रियों
पाथेय-जैसा दे रही थी। घोड़े डाल से बंधे अपनी लगाम चबा
थे। कभी-कभी उनकी कड़कड़ाहट वातावरण की नीरवता
कर देती थी। इसी प्रकार कभी कोई जुगुनू क्षण-भर के लिए
मक वर रात्रि के प्रति अपने विद्रोह की घोषणा कर जाता था।
और इन सब को शान्त रहने के लिए कभी-कभी अंधकार का
तिनिधि कोई निशापक्षी पल फड़फड़ाकर अपने वर्णक्लुस्वर में
भावधान कर जाता था।

थोड़ी देर बाद शंभू ने करबट बदली और अलसाये स्वर में
बोला—“मंगल मैं तो बहुत थक गया हूँ, अब सोऊँगा। तुम भी
आँखें मूँद लो, नीद आ जाएगी। सबेरे उठकर चल देंगे।”
“अच्छी बात है।” कहकर मंगल ने एक बार घोड़ों की ओर
देखा और निद्रा के प्रयास में करबट बदल ली।

शंभू सोने लगा। घोड़े लगाम चबाते रहे। वायु बनेली
झाड़ियों के फूलों की सुगन्ध आँचल में भरे उसी प्रकार इधर-उधर
इठलाती रही। जुगुनू भी रह-रहकर अपने अस्तित्व का प्रमाण
देते रहे और निशापक्षी पूर्ववत् अपनी आतकमयी घोषणा से उनका
निषेध करते रहे। लेकिन मंगल की आँखों में नीद नहीं थी।

वह उसी वृक्ष की ओर देखने हुए सोच रहा था—

इस मैदान में यह प्रकेला पेड़ कहीं से आया? इसके आस-
पास दूसरा पेड़ क्यों नहीं है? फिर, यह इतना पुराना होकर भी
कैसे बचा हुआ है? एक समूचे बाग की कामा ख्वने वाला यह
एक अचमक कल्पवृक्ष है? क्या किसी देवता से इसका संबंध

है ? पता नहीं, किस जानि का पेड़ है ? मैं तो इधर पहली बार आया हूँ । दिन में देखूँगा । कदाचित् इमली का होगा । भ्राम तो नहीं है, यह निश्चित है । महुमा भी हो सकता है । या फिर बरगद हो । हाँ, बागर ही होगा । और वह मेला ? कल पता लगाऊँगा कि मेला किस देवता के नाम पर लगता है । विचित्र वान है । बल्पवृक्ष ! जब से इसका जन्म हुआ, इसकी एक भी टहनी टूटी नहीं । तब तो अक्षयवट कहना चाहिए । सुनता था, अक्षयवट प्रयाग में है, उसी का भाई हो—सगा या सौतेला, कुटुंबी !

मगल इनी प्रकार की बल्पनाओं में लीन, करवटे बदलता रहा । लगभग एक घड़ी बाद वायु के भोके कुछ अधिक शीतल हो गए थे । मगल को भी भयकी आ गई । उसने एक लम्बी साम छोड़कर विचार भ्रम्यता में विराम लगाया और निरुद्बेग भाव से आँखें मूँदकर सोने लगा ।

वन का वातावरण धीरे-धीरे शीतल और सुगन्धमय होता जा रहा था । तीसरा पहर प्राग्भ होने-होने पूर्णरूप से शान्ति छा गई । अब न जगुनु चमकने थे, न निशापक्षी बोलने थे । जैसे वहाँ कोई प्राणी रहता ही न हो । केवल वायु भी लहरे आ रही थी, बस । वह भी शीरब नि शब्द ।

तीसरे पहर के मध्य मगल ने स्वप्न में देखा—

वह विशालकार्य वृक्ष अवस्मात धरती में धँस जाता है । डालें और पत्तियाँ तक लुप्त हो जाती हैं । उसके अस्तित्व का एक भी सिद्ध होल नहीं रह जाता । दूसरे क्षण जहाँ वह वृक्ष धरती में समाया था टीक उगी स्थान पर दो द्यबिन जाने वहाँ में आकर खड़े हो जाते हैं । एक स्त्री है, दूसरा पुरुष । दोनों अति सुन्दर और तेजस्वी प्रतीत होते हैं । विष्णु उनके मृग पर एक प्रकार की उदारगी अथवा पीडा की भलक है । उनमें वार्तालाप हो रहा है । स्त्री बहती है—स्वामी

विधाता ने यह क्या किया ?”

पुरुष ने उसका हाथ थाम लिया है और आश्चर्य करते हुए कहता है—“वही, जो उसकी इच्छा थी।”

“आह, कंसी कठोर विडम्बना है !”

“विधाता के पास और है ही क्या ? मात्र अपनी विडम्बना के लिए ही तो वह प्रसिद्ध है।”

“क्या यही न्याय था ?”

“संभव है।”

“आप भी ऐसा कहते हैं !”

“प्रिये ! और अन्याय की परिभाषा सर्वथा काल्पनिक है। इसके बीच कोई श्लोकीक सीमा रेखा नहीं है। यह सारी बातें मनुष्यकृत है। उसने अपने हानिलाभ को दृष्टिगत करके ही सारे नियम और विधान बनाये हैं। एक समय जिस कार्य की नीति और न्याय के अन्तर्गत देखता है, दूसरा यदि उससे लाभान्वित नहीं हो रहा, तो उसे अनुचित और असंगत बताता है। धर्म-अधर्म, पाप पुण्य और नीति-अनीति यह सब स्वार्थ के दो रूप हैं। मानव की दृष्टि में ये भिन्न हैं; पर वस्तुतः यह सब एक हैं। इनमें कोई भी नहीं है।”

स्त्री इस लम्बे-चोटे वकन से कुंठित हो जाती है। वह विर दृष्टि से आकाश की ओर देखकर कहती है—“फिर भी यदि ईश्वर मुझे कहीं मिले तो मैं उससे पूछूँ—तुमने ऐसा क्यों किया ?”

“उमसे क्या लाभ ? उसे जो करना था, कर चुका। अब जो कुछ है उसी में संतोष करो।”

“इस प्रेत घोनि में संतोष कहां ? क्या वह रहे हैं स्वामी ! वह गार्भमयन का वैभव, और वही यह स्थान ! एक और एक ही है। और उनके लिए हमारी ऐसी खबर-दस्ता

इती है, जैसे कह रही हो—“हाँ, जानती हूँ।”

इस उत्तर ने पुरुष को आनन्द-विह्वल कर दिया है। वह भाँति
 [ंद कर अलस-तन्द्रित भाव से स्त्री की कंठराशि पर हाथ फेरने
 लगता है। सहसा न जाने क्यों, एक दीर्घ निःश्वाम छोड़कर कहता
 है—“आह !” और बड़े बेग से स्त्री का मुँह चूम लेता है। फिर,
 एक-दो-तीन—लगातार चुम्बन लेने लगता है। उसके मुख पर
 वासनाजन्य के भाव अंकित हो गए हैं। श्वास-बेग बढ गया है।
 शरीर अस्वाभाविक रूप से कांपने लगा है। पौरुष उद्दाम हो
 उठा है। पता नहीं अब वह क्या करना चाहता है ? स्त्री को
 उसने बक्ष से बस रखा है। चुम्बन क्रम यथावत् हैं और वह कह
 रहा है—“लालसे ! चलो, अपनी समाधि में चलो, यहाँ कोई
 अभाग आकर देख लेगा।”

स्त्री ने मूक स्वर में स्वीकार कर लिया है।

पुरुष एक बार उसकी ठुड्ढी छूता है; फिर उठाकर खिलौने
 की भाँति उछाल देता है। दूसरे क्षण दोनों के अघर संयुक्त हो
 जाते हैं और चपला की भाँति सारा दृश्य लुप्त हो जाता है। अब
 वहाँ न स्त्री है, न पुरुष; न उनकी उपस्थिति का संकेत देने वाला
 कोई चिह्न। वही विशालकाय वृक्ष खड़ा, अन्धकार में अपने को
 लीन करने का प्रयास कर रहा है।

मंगल चौक पड़ा। आँखें खुल गईं। देखा, तो चकित हो
 उठा—आह्ला मुहूर्त आ गया है। अष्टमी का चन्द्रमा पश्चिम की
 ओर बढ़ रहा है। उसके प्रकाश ने अन्धकार को परास्त करके
 प्रत्येक वस्तु को स्पष्ट कर दिया है। दाहिनी ओर सो रहा शम्भू
 कदाचि स्वप्न देख रहा है। कल्पवृक्ष के पत्ते चमक रहे हैं और
 उसकी डाल से बँधे दोनों घोड़े खड़े सो रहे हैं।

जिज्ञासा ने प्रेरणा दी—चलकर देखो तो, कल्पवृक्ष है किस

की ढाल पर बैठी हुई श्यामा ने पुकारा—‘ठाकुरजी! ठाकुर जी !’

घोड़ों की हीम और श्यामा के म्बर ने शंभू की निद्रा भंग कर दी। वह भी उठ बैठा और ‘शिव-शिव’ करके इधर-उधर देखने लगा। मंगल आ गया था। उसने कहा—“चलो भाई, सबेर हो गया।”

“कहाँ गये थे ?” शंभू ने डरकर अंगड़ाई लेते हुए पूछा।

“ऐसे ही टहलने !”

शंभू में अभी कुछ आलस्य था। धीरे से उठा और माफा समेटकर घोड़ों की ओर बढ़ते हुए कहा—“चलो, चलें, अभी बीस कोस चलना है।”

मंगल ने कुछ नहीं कहा। वह स्वप्न की वरूपना में खोया हुआ था।

दोनों ने घोड़े खोले, लगाम लगा कर उनकी पीठ सहलाई और सवार होकर एक ओर को चल पड़े।



मगवान श्री कृष्ण का कुन्दावन स्थित 'सुकुन्द-मन्दिर' । आज
 कागदु शृंगिला थी । यह मन्दिर वापिकोलाव की निदचित तिथि थी ।
 प्रति वर्ष आज की रात्र मन्दिर का वानावर्ण घरालोक से कही उठ
 कर स्वर्गपुरी का निर्माण कर देता था । देव के मृदूर भागों से आए
 हुए कृष्णभवन अपनी-अपनी भावनायें प्रतिबन्ध कर रहे थे । स्त्री और
 गुरु, दास्य और बृद्ध सब आनन्दमान थे । मन्दिर का विमान
 प्राण ११मंश के रूप में सजा हुआ था जिस पर विद्यान बना-
 बागों के समूह अपना-अपना बीजुव दिया रहे थे । कृष्ण-जन्म से
 लेकर उनके दास्य-प्रदाय तक की घटनायें अभिनय रूप में प्रस्तुत
 की जा रही थी । आज पहना था यह कल्पियुग नहीं, टापर है,
 और हम सब कृष्ण के गती-जायी हैं ।

वास्तुकता की दृष्टि से सुकुन्द-मन्दिर उत्तर भारत का गौरव-
 बंधु था । (सिन्धीय अज्ञान, लज्जुगहों और वाणाकं के मन्दिर देखे
 हैं वे भी बदन है—सुकुन्द-मन्दिर की सांभा कुछ और ही है । उस
 की विवाचित दीवारों की लकीर दीर्घात्मक रूप कहा जाता है ।
 उनके गिणी जितने लिपुन रहे होंगे, इसका अनुमान केवल इनके
 से ही किया जा सकता है कि यह मन्दिर सारे भारत में अद्वितीय
 है । इसका अभिनय रूप कही देला नहीं गया ।

उत्तर के अज्ञान पर उसे विशेष रूप में सजाया गया था ।

बदली स्तम्भ, चन्दनधार और मंगल कलश उसकी शुचिता का घोटन कर रहे थे। चन्दन और अमरु की सुगंध वातावरण को उत्तरोत्तर मोहक बना रही थी। अश्रक के पारदर्शी आवरणों के भीतर से झिलमिलाती हुई दीपावलियाँ रंग-विरंगी किरणें प्रसारित कर रही थी। इस प्रकार बाहर से चन्द्रिका के घबल आवरण में लिपटा हुआ मुकुन्द-मंदिर अपने प्रांगण में बैकुण्ठ का दृश्य प्रस्तुत कर रहा था।

प्रांगण के ठीक सामने की ओर एक विशाल वृक्ष था। उसके बीचो-बीच रत्नजटित सिंहासन पर भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधिका की मानवाकार प्रतिमायें सुसज्जित वेशभूषा भेखड़ी अपलक नयनों से दर्शकों की ओर निहार रही थी। उनके पार्श्व में अन्य अनेक देवी देवताओं की छोटी बनी मूर्तियाँ स्थापित थी। सभी प्रतिमाएँ मूल्यवान् वस्मारणों से अलंकृत थी। उन पर सुगन्धित पुष्पहार अर्पित थे। समीप ही चौकी पर दीपदान रखा था, जिसकी सहस्र-मुखी दीप-शिखायें नक्षलोक की भ्रान्ति उत्पन्न का रही थी। जान पड़ता था—संसार की समस्त शुचिता और शांति यहीं आकर केन्द्रित हो गई है। आमोद और उल्लास का सुष्टिकारी प्रभाव दर्शकों को आत्म-विभोर कर रहा था।

थोड़ी देर बाद मन्दिर के उत्सव-प्रबन्धक ने घोषणा की—
 भक्तजन ! अब आप लोग शान्त हो जायें। उत्तर भारत की प्रसिद्ध गायिका कामना, भगवान् कृष्ण के सम्मुख अपनी कला का प्रदर्शन करने जा रही है। स्थिरचित्त होकर उसके संगीत का आनन्द लें और देखें कि वह अपनी साधना में कहीं तक सफल हुई है।'

सर्वत्र-शांति छा गई। सब लोग साँस रोककर मंच की ओर देखने लगे, जो प्रांगण में मूर्तियों के ठीक सामने, नृत्य प्रदर्शन के लिए बनाया गया था। कामना विख्यात नर्तकी थी। बड़े-बड़े राजे-

महागजे उमे गर्व के साथ आमंत्रित करते थे । जनमाधारण को उस का दर्शन दुर्लभ था । आज भदिर में यह मुयोग पाकर दर्शक-मण्डली पुलकित हो उठी । उसकी उत्सुकता इतनी प्रबल हो उठी थी, जैसे मूर्तियों से वरदान पाने का आश्वासन मिल गया हो ।

दूसरे क्षण मुन्दरी कामना ने रगमच पर पदार्पण किया । उसके साथ सात व्यक्ति और थे, जो विभिन्न प्रकार के वाद्ययन्त्र लिए हुए थे । वे सब एक निश्चिन्त गति और विराम के साथ—जैसे यंत्र-चालित हों—पहले कृष्ण प्रतिमा के समक्ष नतमस्तक हुए, फिर घूमकर दर्शकों का अभिवादन किया और यथास्थान बठ गए ।

दर्शकोंने कामना को देखा तो देखने ही रह गए । बहुरंगे वस्त्रों से झलकून अनिष्ट सौन्दर्य की उस जीवन्त प्रतिमा का प्रभाव इतना विमुग्धकारी था कि कोई किसी प्रकार का इंगित तक नहीं कर सका । सब जड़वत् बैठे उमे अपलक दृष्टि में देखने रहे । वे निश्चय तक नहीं कर सके कि वास्तव में यह कौन है—मानवी अथवा कि नागी ? सजीव नारी अथवा निजीव प्रतिमा ? यह दृश्य स्वप्न है अथवा प्रत्यक्ष ?

इस भ्रम का, इस अनिश्चय का निराकरण तब हुआ जब वाद्य-यन्त्रों की ध्वनि के साथ स्वर सगम करके कामना ने आलाप लिया—

“सोम मुचुट तिलक भल-

सोभिन प्रभु मुख विसाल ।”

प्रब, लोगों को विश्वास हुआ—घरे, यह वही कामना है, जिसके विषय में अभी पुजारी जी ने बताया था और वे सतुष्ट-सान्न् होकर उसका गीत सुनने लगे ।

मृदंग की थाप और मजरी के मधुरिम रस में समन्वय करती हुई, मुन्दरी कामना शास्त्रीय लय-ताल में भावद्व ध्रुपद गा रही थी ।

उसके पीना विनिन्दक स्वर-माधुर्य ने समस्त वाद्य-उपकरणों को सज्जित कर दिया था। अब वे प्रतिस्पर्धा के भाव में नहीं, उसके अनुगामी बनकर घपना अस्तित्व सार्थक करने के उद्देश्य में ध्वनित हो रहे थे। खोतागण मंत्रमुग्ध थे। मधुर संगीत-लहरी वायुमंडल में गूँज रही थी। चतुर्दिक आनन्द की धाराये उमड़ चली थीं। लगता था—अगित विद्व ही संगीतमय हो गया है। मंदिर का कण-कण जैसे प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़ और चेतन, सब उसी में तन्मय थे। अनुभूति के लिए मानों संसार में केवल यही आलाप शेष रह गया था—

“सीस मुकुट तिलक भाल,
सोभित प्रभु मुख विसाल।”

एक के बाद एक करके कामना ने कई गीत सुनाये। दर्शक तृप्त हो गए। संगीत का ऐसा अनुपम आनन्द उन्हें जीवन में आज पहली बार मिला। क्लान्ति और निद्रा न जाने कहाँ चली गई। सारी रात बैठे, कामना के रूप और गीत से तृप्ति लाभ करते रहे। उस लोकोत्तर मुख के आगे उन्हें किसी प्रकार की दैहिक, भौतिक आवश्यकता विचलित नहीं कर सकी। परम सतुष्ट भाव से संगीत-सुधा पीते रहे।

धीरे-धीरे रात्रि का अंतिम पहर आया और चंद्रदेव अस्ता-चल की सीमा में प्रविष्ट हुए। समय का अनुमान करके पुजारी ने सूचित किया—“अब समारोह समाप्त होना चाहिए; कारण कि ब्राह्म मुहूर्त आ रहा है। पहले विचार था कि कामना एक भैरवी सुनाकर आप सब से विदा लेगी; किन्तु आपकी इच्छा है कि चलते समय उसकी पुत्री लालसा को एक पद सुनाने का अवसर दिया जाय। यद्यपि कुमारी लालसा अभी बालिका है; किन्तु एक गुणवती जननी की संतान होने के नाते, वह भी अपने

प्रयास में सफल होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आशा है, उपस्थित जन मनोयोग पूर्वक उस नायिका का गीत सुनाकर, एक नई प्रतिमा को उभरने का अवसर देगे। भगवान् कृष्ण के समक्ष अपना समीन प्रस्तुत करने को वह बालिका बहुत ही उत्सुक है।”

“धन्य है! धन्य है!” दर्शक समूह ने करतलध्वनि करते हुए कहा। कामना की सफलता देखकर उसकी पुत्री के प्रति लोगों की जिज्ञासा स्वभावतः जगमगी उठी। वे उन्मुख-चकित दृष्टि से इधर-उधर देखने लगे कि नर्तकी पुत्री कहाँ है? दूसरे क्षण, कामना की द्वादश वर्षीया पुत्री लालसा मनोरम परिधान में भोजित, बिनो गन्धर्व कन्य की भाँति अपने देदीप्यमान आनन्द की वाति दिखेन्गी हुई, रगमच पर छा उपस्थित हुई। उसके रूप में एक प्रकार की अनीतिक-सी शक्ति थी। जिसने भी देखा, निनिमेष टपना रह गया। लालसा जैसे विश्व की लालसा वा मूर्तिमान रूप थी। उसका जन्म बदाचिन् माधुर्य और नावण्य रूढ़ी दो लक्षों में हुआ था। एक-एक अंगसोच में बना हुआ था। उसके अंगस नयना की मादकता उत्तेजनाकारी थी। कचन प्रतिमा-सी देहदृष्टि मुगधित अदृश्य और अमम्भव और असामान्य आवरणण लिए वह विशारी शक्तियों में अनुपम थी। महमा विश्वास नही होता था कि यह माध्याग्य मनुष्य-कन्या है। देवदाना-सी वाति लिए हुए अब वह मच पर धाई उस प्रभान का जीवन छा गया।

लालसा रूपवती होने के साथ ही गुणज्ञ और मन्मथ थी। शाली-नता का पाठ उसने पढ़ लिया था। जैसे ही निदिचन्त निष्कल्प ग घाग बढ़कर उमने कृष्ण मूर्ति को प्रणाम किया, फिर दर्शक मण्डली की ओर देखकर, माँ के पास आ बैठी। उसकी दृष्टि क्या थी, सम्भोहन का घर था। जिसने भी देखा, जैसे आहत हो गया।

‘चित्तना अवसन्त रूप है इसका’ इस अर्थि सौदर्य की समता कोन

उसके पीछे विभिन्न प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग करने से
संस्कार का दिया था। उसके संस्कारों के बाद में नहीं, उनके
संस्कारों के बाद ही संस्कारों का प्रयोग करने के उद्देश्य से प्रति
हो गये थे। साधारण मन्त्रों से। बहुत मन्त्रों-मन्त्रों का प्रयोग
के द्वारा गये थे। धार्मिक मान्यता की पाठों उनका नहीं था।
मन्त्रों का - संस्कार करने ही मन्त्रों का ही मन्त्र है। मन्त्रों का
काम-काम जैसे संस्कारों का ही होता था। उड़ घोर घोर, सब
उभरे ही मन्त्रों से। संस्कारों के लिए मन्त्रों मन्त्रों में केवल नहीं
का प्रयोग ही ही ही ही -

गौतम मुमुक्षु तिलक भाव,

गौतम मुमुक्षु मुनि विद्यालय ।”

एक न बाद एक करने कामना में कई गौतम मुनि। दशक
का ही था। मन्त्रों का ऐसा अनुभव मान्यता उन्हें जीवन में प्राप्त
हने का दिया। कर्मान्ति घोर निद्रा न जाने कहीं चली गई।
तो रात में ही। कामना के रूप घोर गौतम से तृप्ति प्राप्त करते रहे।
। गौतमों का मुनि के द्वारा उन्हें किसी प्रकार की दैहिक, भौतिक
आस्था विचलित नहीं कर सकी। परम संतुष्ट भाव
न-मुखा ही रहे।

धीरे-धीरे रात्रि का अन्तिम पहर आया और चंद्रदेव अस्त

प्रियाम में सकल होगी, ऐमा मेरा विश्वास है । आना है, उपस्थित जन मनोयोग पूर्वक उस नायिका का गीत सुनाकर, एक नई प्रतिमा को उभरने का अवसर देगे । भगवान् कृष्ण के समक्ष अपना मगीत प्रस्तुत करने को वह यानिका बहुत ही उत्सुक है ।”

“घन्य है! घन्य है! ” दर्शक समूह ने वरतलध्वनि करते हुए कहा । वामना भी मफलना देखकर उसकी पुत्री के प्रति लोगों की जिज्ञासा स्वभावन जाग उठी । वे उत्सु-चकित दृष्टि में इधर-उधर देखने लगे कि नर्तकी पुत्री कहा है ? दूमेरे क्षण, वामना की द्वादश वर्षीया पुत्री लालमा मनोन्म परिधान में गज्जित, विनी गन्धर्व बन्ध की भानि अपने देदीप्यमान आनन्द की कानि धिन्वेरती हुई, रगमच पर आ उपस्थित हुई । उसके रूप में एक प्रकार की अलौकिक-सी गरिमा थी । जिसने भी देखा, निनिभेप देवता रह गया । लालमा जैसे विश्व की लालमा वा मूर्तिमान् रूप थी । उनका जन्म कदाचिन् माधुर्य और लादण्य र्न्ही दो तत्वों से हुआ था । एक-एक अंगसाधे में बना हुआ था । उसके अलस नयनों की मादकता उत्तेजनाकारी थी । कचन प्रतिमा-सी देहदृष्टि, मुगठित अक्षयद और अमम्भव और असामान्य आकर्षण लिए वह विशोरी सहस्रो में अनुपम थी । सहसा विन्व्याम नहीं होता था कि यह साधारण मनुष्य-बन्धा है । देववाना-सी कानि लिए हुए, जब वह मच पर आई उस प्रभात वा जीवन आ गया ।

लालसा रूपवती होने के साथ ही गुणज्ञ और मन्ध थी । शाली-नता वा पाठ उसने पढ लिया था । वैसे ही निदिचन्त निष्कलुष से भागे बहकर उसने कृष्ण मूर्ति को प्रणाम किया, फिर दर्शक मण्डली की ओर देखकर, माँ के पास आ बंटी । उसकी दृष्टि क्या थी, सम्मोहन वा शर था । जिसने भी देखा, जैसे आहत हो गया । ‘कितना ज्वलन्त रूप है इसका ! इस अग्नि सौदर्य की समता कौन

उमके पीना विगिन्दक श्वर-मापुयं ने ममत्त वाद-उत्तरणों
 मग्नित कर दिया था। धय के प्रतिशर्दा के माय में नहीं, व
 धनुगामी बनकर धपगा धगिन्व गाधंर करने के उद्देश्य में धा
 हो रहे थे। खोनागण मप्रमुष्य थे। मपूर सगीन-नहरी वासुमं
 में गूँज रही थी। धनुदिक धानन्द की धारायें उमड़ चनी थी
 लगता था—धगिन विश्व ही मगीनमय हो गया है। मदिर क
 कण-कण जैसे प्रतिध्वनित हो रहा था। जड़ धौर चेतन, स
 उसी में तन्मय थे। धनुभूति के लिए मानो ससार में केवल यही
 धालाप दीव रह गया था—

“सीस मुकुट निलक भाल,
 सोभित प्रभु मुख विसाल।”

एक के बाद एक करके कामना ने कई गीत सुनाये। दर्शक
 तृप्त हो गए। सगीत का ऐसा धनुपम धानन्द उन्हें जीवन में ध्राज
 पहली बार मिला। क्लान्ति धौर निद्रा न जाने कहीं चली गई।
 सारी रात बँडे, कामना के रूप धौर गीत से तृप्ति लाभ करते रहे।
 उस लोकोत्तर मुख के ध्रागे उन्हें किसी प्रकार की दैहिक, भौतिक
 ध्रावश्यकता विचलित नहीं कर सकी। परम संतुष्ट धाव से
 संगीत-सुधा पीते रहे।

धीरे-धीरे रात्रि का धंतिम पहर ध्राया धौर चंद्रदेव अस्ता-
 चल की सीमा में प्रविष्ट हुए। समय का धनुमान करके
 पुजारी ने सूचित किया—“ध्रव समारोह समाप्त होना चाहिए;
 कारण कि ब्राह्म मुहूर्त ध्रा रहा है। पहले विचार था कि कामना
 एक भैरवी सुनाकर ध्राप सब से विदा लेगी; किन्तु ध्रापकी इच्छा
 है कि चलते समय उसकी पुत्री लालसा को एक पद सुनाने का
 ध्रवसर दिया जाय। यद्यपि कुमारी लालसा ध्रभी बालिका है;
 किन्तु एक गुणवती जननी की संतान होने के नाते, वह भी ध्रपने

प्रयाम में सफल होगी, ऐसा मेरा विश्वास है। आशा है, उपस्थित जन मनोयोग पूर्वक उस नायिका का गीत सुनाकर, एक नई प्रतिमा को उभरने का भवसर देगे। भगवान् कृष्ण के समक्ष अपना मंगीन प्रस्तुत करने को वह वालिवा बहुत ही उत्सुक है।

“घन्य है! घन्य है!” दर्शक समूह ने करतलध्वनि करते हुए कहा। कामना की सफलता देखकर उसकी पुत्री के प्रति लोगो की जिज्ञासा स्वभावन जाग उठी। वे उत्सुक-सकित दृष्टि से इधर-उधर देखने लगे कि नर्तकी पुत्री कहां है? दूरने क्षण, कामना की द्वादश वर्षीया पुत्री लालसा मनोरम परिधान में मञ्जित, किमी गन्धर्व कन्य की भांति अपने देखीप्यमान आनन्द की बानि शिखेन्नी हुई रगमच पर आ उपस्थित हुई। उनके रूप में एक प्रकार की अनीकिक-भी गरिमा थी। जिसने भी देखा निनिमेष देवता रह गया। लालसा जैसे शिख की लालसा का मूर्तिमान रूप थी। उसका उन्नत बदाचिन् मापुय और लावण्य उन्ही दो लक्षो में हुआ था। एक-एक अंग सचि में इला हुआ था। उसके अंग नयनों की मादकता उत्तेजनाकारि थी। कचन प्रतिमा-नी देहदृष्टि, मुगठित अवयव और अतम्भव और असाभान्य आवर्षण लिए वह विशोरी सहस्रो में अनुपम थी। सहसा विश्वास नहीं होता था कि यह साधारण मनुष्य-कन्या है। देवदाना-भी बानि लिए हुए, जब वह मच पर आई उस प्रभाव का जीवन आ गया।

लालसा रूपवती होने के साथ ही गुणज्ञ और मग्ध थी। शाली-नता का पाठ उसने पढ़ लिया था। जैसे ही निःश्वन्न निष्वसुप में आगे बढ़कर उसने कृष्ण मूनि को प्रणाम किया, फिर दर्शक मण्डली को घोर देखकर, मां के पास आ बैठी। उसकी दृष्टि क्या थी, सम्मोहन का चार था। जिसने भी देखा, जैसे आहन हो गया। ‘कितना उबलन रूप है हमका! इस अग्नि सौंदर्य की समता कीन

कर सकेगा ? आह ! सचमुच, विधाता को कुछ भ्रम हो गया था, नहीं तो यह दुर्लभ भणि इस नर्तकी के पास आती ?”

किन्तु लालसा का ध्यान इस ओर नहीं था । अपनी आलोचना और प्रशंसा के प्रति सर्वथा विरक्त भाव से बैठी, पहले तो कुछ देर तक वह वादकों को संकेत देती रही; फिर अपने मधुर स्वर में प्रलाप लेकर वायु की गति मन्द कर दी ।

“ओ मुरली वाले...श्याम !

ओ मुरली वाले...श्याम !!”

यह संगीत नहीं, सगीत का सदेह सप्राण स्वरूप था । दर्शकों की विमुक्ति चरम सीमा पर पहुँच गई । कामना का स्वर माधुर्य, भाव भंगिमा और कला-प्रदर्शन लालसा के समक्ष नगण्य हो गया । वह स्वयं भी पुत्री का असाधारण कौशल देखकर अभिभूत हो उठी थी । दूमरा कोई होता, तो कदाचित् ईर्ष्याग्नि उसे अचेत कर देता; पर माँ होने के कारण कामना को अपनी पराजय भी सुखद प्रतीत हो रही थी । उसने मन ही मन भगवान को धन्यवाद दिया—
‘मुकुन्दमन्दिर में आकर लालसा ने अपनी कीर्ति का वरदान प्राप्त कर लिया है । कृष्ण जी की कृपा से यह थोड़े ही दिनों में विख्यात हो जाएगी । आज का संगीत इसके भावी जीवन की आधारशिला बनकर रहेगा ।’

गीत अथ भी चल रहा था । उसके आरोह-अवरोह क्रमशः आजा रहें थे । वादकों में होड़ लगी हुई थी । वे अपने-अपने से लालसा के साथ स्वर-माध्यम का अथक प्रयोग कर रहे थे । श्रोता विस्मित थे । बीणा और लालसा का संयुक्त स्वर एक प्रकार का विधम उत्पन्न कर देता था । गीत क्या था, सम्मोहन का मंत्र था । दर्शक मण्डली एकटक लालसा का रूप देग रही थी । कर्णपुट राम-शुभा पी रहे
- श्री गणेश हृदयैर्जैम अचेत होकर मो गई थी । जड़-चेतन गव

लालसा के राग में तन्मय थे घोर गायक, वादक तथा थोता सबके मन प्राण केवल इसी लय पर झूम रहे थे—

“ओ मुरली वाले...श्याम !”

न जाने, यह वास्तविकता थी घषदा दर्शकों की मनोभ्रान्ति कि रंग-मय के ठीक सामने स्थापित भगवान् मुकुन्द की युगल मूर्ति जैसे मुग्ध होकर झूम रही थी। सँकड़ों दीपक जल रहे थे। भ्रम की कोई सभावना न थी। सब कुछ स्पष्ट था। प्रस्तर प्रतिमाओं को झूमते देखकर लोग चकित हो उठे। कदाचित् यह वह स्थिति थी, जो नौशाह्र पथिक की होती है, जब वह अपनी सतरित नौका को स्थिर समझ कर तटस्थ वस्तुओं को गतिमय देखता है। ब्रह्म-मूर्त के उस नीरव-निस्पन्द वायुमण्डल में लालसा की स्वर सहरी इतनी स्पष्ट प्रतिध्वनित हो रहा था कि दर्शकों ने समझा—यह तो भगवान् मुकुन्द का स्वर है। उन्हें लगा कि लालसा घोर मुकुन्द-मूर्ति ही नहीं, अपनी घोर आकाश का कण-व्यण बड़ी मुग्धकारी अलाप ले रहा है—ओ मुरली वाले श्याम !”

अचानक, जब लालसा ने गीत समाप्त किया, तो जैसे युगान्तर हो गया। स्वयं-स्वप्न भंग हो गया घोर मर्त्य की अनुभूति प्रत्यक्ष होकर घट्टहाम करने लगी। नुष्टि-तन्मयता का वह विस्मृति भारी प्रभाव न जाने वहाँ चला गया ? सारे दर्शक जो अभी तक कल्पना लोक में विचार कर रहे थे, सहसा भौतिक जगत् में आ गिरे। जान पड़ा कुछ तो गया है। वे व्यथ दृष्टि में दृश्य-उपर देखने लगे। एक अज्ञान-मी मृणा, घनूष घोर पदचालाप की गवाये उनके मुखों पर स्पष्ट हो उठी थी। गीत ही उग प्राणप्रद निर्भरिणी का बल-बल प्रभाव रक जाने से एक प्रहार की मनोशय्या उन्हें पीड़ित करने लगी।

दीणवी का प्रकाश फैला हुआ था, किन्तु सब उगमें बट

ज्योति नहीं थी। प्रभात का आगमन जानकर वे हतप्रभ हो चले थे। लालसा अब भी मंच पर बैठी थी। वही रूप था, वही लावण्य। न क्लान्ति थी, न मलीनता। हाँ मस्तक पर कुछ धमकण भलक आए थे, जो कवियों की 'सजल जलज' की उक्ति का प्रमाण प्रस्तुत कर रहे थे। उन श्रम बिन्दुओं ने लालसा के रूप लावण्य की अभिवृद्धि कर दी थी। किन्तु दर्शकों को इससे संतोष नहीं था। कदाचित् वे उसी स्वर-तहरी की प्रतीक्षा कर रहे थे।

कामना ने उठकर दर्शकों का अभिवादन करते हुए कहा—
 “सज्जनो ! मेरी पुत्री अभी बहुत ही अवोध है। संगीत-शासन का अक्षराम्भ-मात्र उसने किया है। अतः यदि यह आपको सन्तुष्ट न कर पाई हो तो क्षमा करें। भगवान् मुकुन्द की कृपा होगी तो मैं उसे अगले वर्ष और अधिक शिक्षित करके आपकी सेवा में उपस्थित करूँगी।” और, वाक्यान्त में नतमस्तक हो गई।

माता-पुत्री के रूप-गुण ने दर्शक-समाज को बशीभूत कर लिया था। किसी में इतना अहम् नहीं रह गया था कि कामना के कथन का विरोध करता। करता भी, तो क्या ? उसने जो कुछ कहा था, औपचारिक शिष्टाचार ही तो था ! लोग 'धन्य-धन्य' कहने लगे। सहसा, किसी भावुक व्यक्ति ने घपना मूल्यवान् हार कामना की ओर फेंकते हुए कहा—“पुरस्कार तो नहीं करूँगा, हाँ लालसा के लिए मेरी निछावर आ रही है, ले लेना।”

फिर जैसे उपहारों की वर्षा होने लगी। पुष्पमालाओं से लेकर कुण्डल-भुद्रिका और कंकण तक फेंके गए। किसी को कोई सकोच नहीं था। सब मुक्त भाव से अपने-अपने उद्गार लुटा रहे थे। पुजारी वर्ग ने देखा तो स्तंभित रह गया—“भरे, देव प्रतिमाओं पर पुष्पवर्षा होती है, और इस नर्तकी पर रत्नवर्षा हुई। तो, क्या

चमुच, सौन्दर्य ही संसार की सर्वाधिक वन्दनीय विभूति है ?
 इनका ज्ञान और विवेक फिर से अपनी परिभाषा खोजने लगा ।

ठीक उपा बेला में, जब प्रभात का सन्देश लेकर पूर्वीय क्षितिज पर अरुणिमा ने अपनी पनाका फहराई, शल घ्वनि एव घण्टा-घडिपाल के मंगल-रव के मध्य भगवान मुकुन्द की जय-जयकार करते हुए, उत्सव समाप्त हुआ । पुजारियों ने प्रसाद वितरण किया और दर्शकगण, देवप्रतिमाओं को प्रणाम करके, अपने-अपने स्थान की ओर लौट पड़े । वे परस्पर बातें कर रहे थे । कोई मन्दिर सज्जा पर मुग्ध था, कोई प्रतिमाओं की भव्यता पर । कोई महन्तजी के सौम्य स्वभाव की प्रशंसा कर रहा था, कोई मृत्युवर्ग की तत्परता की । किन्तु सबसे अधिक सच्चा उन लोगों की थी जो कामना और लागमा के सौन्दर्य-संगीत का बखान कर रहे थे । यद्यपि उनके मन में कोई कुत्सा नहीं थी, फिर भी संगीत के उस मधुरिम शानावरण का स्मरण उन्हें चञ्चल कर रहा था । दोनों नर्तकियों के रूप-लावण्य, भाव-अद्वर्जन और स्वर-माधुर्य पर वे अनेक प्रकार से टीका टिप्पणी कर रहे थे ।

चलने-चलने एक व्यक्ति ने अपना विचार प्रकट किया—
 “हो न हो, यह दोनों पूर्वजन्म की कोई अप्सरा या पत्नी है । साधारण स्त्री में इतना रूप बही से आया ? देखो न, कितनी देर तक हम सबने खैटकर उन्हें देखा, उनके गीत सुने, फिर भी इच्छा तृप्त नहीं हुई । यही जो चाहता है—एक बार फिर वही भौकी देखने को मिल जानी ।”

समीप में एक सन्यासी जैसा मुखक जा रहा था । उगने गुना, तो बत—

“तृप्येना राजा घन तचयेन, न सागरो भूमि जलागमेन ।
 न पटिन. साधु गुभासिनेन, तप्येन चक्षु श्रिय दर्शनेन ॥”

“ॐ नमो नारायण ! निश्चय ही तुम्हारा विचार अत्यन्त उज्ज्वल और पवित्र है । संसार का कोई भी मनुष्य तुम्हारा स्पर्श न कर सकेगा । निश्चिन्त और निर्विकार मन से अपने नगर लिए प्रस्थान करो । भवसादप्रस्त होकर यात्रा करना उचित नहीं भगवान कृपण सब मंगल करोगे । भले ही हम पामर जन स्वार्थी; उनकी व्यवस्था में छिद्रान्वेषण करे; किन्तु वह सर्वथा शाश्वत शिव और सुन्दर है । उसमें परिवर्तन की संभावना नहीं । कल्याणकारी होता है ।”

कामना ने पुनः उनकी चरण रज ली और समकोच निवेदित किया—“देव ! एक जिज्ञासा है, किन्तु मैं हीनमति निश्चय नहीं कर पा रही कि उसे आपके समक्ष प्रस्तुत करूँ या नहीं भगवान माहस नहीं हो ग्या कि आपको कष्ट देने की श्रुति करूँ ।”

“शिव, शिव ! कष्ट कैसे होगा । निश्चिन्त भाव में आप प्रदत्त प्रकट करो । यह तो भेग वतन्ध्य है कि तुम्हारे किसी एक हृन्द को शान्त करूँ । निर्भय होकर कहो क्या कहना है चाहो ?”

“यह मेरी एकमात्र गन्तान है । --कामना ने लालसा पीठ पर हाथ रखकर कहा — दयामय स्वयं ही उसे मर्मान शिक्षा देती हूँ । हमकी योग्यता और प्रतिभा आप दाय ही चूके ! चाहती हूँ आप हमारे साथे देखकर हमके भविष्य का कुल आभ देने की कृपा करें ।”

“नारायण !” --महन्त ने दीर्घ निश्चय लेकर आकाश और देखा, फिर बोले—“बेटे, विश्व का कारण उस सर्वशक्तिमान की इच्छा और आज्ञानुसार ही गतिशील है । किन्तु उपोत्थित शूत्रों द्वारा भूत-भविष्य के विषय में शोका-दहत जान लेना मत

समक्ष सुख-शान्ति की कामना व्यक्त की, और अपने निवास-स्थान की ओर लौट आई ।

दूसरे दिन वृन्दावन वासियों ने देखा—मुन्दरी कामना सेवक, सहायको सहित रथासुद्ध, अपने नगर की ओर जा रही है । वे एकटक उसे देखते रहे, थोड़ी देर बाद कामना का रथ धूल में प्रदूष्य हो गया ।



कामना का प्रपना घर ।

भौतिक सुख-साधनों से सज्जित कक्ष ।

दुग्ध घबल शैया पर लेटी हुई कामना विचारमग्न थी—
महन्त जी का ज्योतिषज्ञान प्रसंदिग्ध है । उन्होंने जो कुछ बताया
है, वह सब ब्रह्मवाक्य की भाँति अक्राट्य है । वैसे, कोई अयगुण
नहीं है मेरी पुत्री में; फिर भी दो एक संकेत कुछ शंका उत्पन्न
कर रहे हैं । उन्होंने कहा था—वैवाहिक जीवन में व्यतिक्रम ।

“तो ?”

कामना ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर करवट बदली ।
'व्यतिक्रम' का स्मरण उसकी शान्ति में व्यतिक्रम उत्पन्न करने
लगा । मनोमंथन बढ़ गया । दुष्कल्पनाएँ अनेक प्रकार के भयावह
रूप दिखाने लगी । वह व्यतिक्रम क्या होगा, कैसा होगा, यह प्रश्न
भंभा की भाँति उसके मस्तिष्क में गूँजने लगा । उसने छत से
लटक रही कन्दील पर दृष्टि स्थिर कर दी; जैसे ब्रह्म का दर्शन
कर रही हो और व्यतिक्रम के रूपाकारों से अपने अनुमान का
समन्वय करने लगी—

वह व्यतिक्रम कब होगा ? एक ही बार न ! कि बार-बार
होता रहेगा ? क्या दाम्पत्य-जीवन में कलह होगी ? ऐसी संभा-
वना तो नहीं है; कारण कि मेरी पुत्री रूप-गुण दोनों की दृष्टि

से सम्पन्न है ।

तब ?

एक विकल्प यह भी हो सकता है कि इसका पति आगे चल कर दूसरी विचार-धारा का सिद्ध हो । सैद्धान्तिक मतभेद ही तो प्रायः दाम्पत्य-जीवन में आघात उत्पन्न करते हैं ! किन्तु इसके लिए मैं इस पात्र को भली-भाँति परख लूँगी, जिसके साथ लालसा का विवाह करना होगा ।

नरमा अन्तर्भ्रम के किसी कोने में प्रवेश उठा — और यदि दो में कोई पक्ष अथवा रोगी हो जाय तब ? क्या उस दाय्यग परम्पर की मद्भावनासे समाप्त नहीं हो सकती ? कम से कम एक गायन-वादन पर निर्भर रहने वाली युवती तो होगी स्थिति नरान में भी स्वीकार न करेगी । मान लिया जाय कि ऐसा न ज्ञान, तो भी और जिनकी ही आघातों सामने आ सकती है जो दम्पति का सम्बन्ध विच्छेद कर देती है जैसे मृगायान मन्त्रोन्मत्त उनर-दायिन्द से पलायन असमर्थित जीवन, अरुभिचार और विषम-ग्रहण या ऐसा ही और कुछ । तब ?

सभावनाओं का समूह आसना । अन्न करने । उसने दानो हाथों से मुँह टाप लिया और अंगुष्ठ अक्षर तक अपने का समझाने लगी— उँह यह सब भविष्य के गर्भ में छिपा है । जो हाता है खड़ी हाता । न काम न अर्थिक । तब इस प्रकार अपने का मूल्य करने से क्या लाभ ? मिथ्या का मथन उँगे दाघाय कर देता है । अभाव और अवगुण बढ़ी, विराम नहीं है । महान्त जी ने आसना के सौभाग्य की धार भी तो गंजन किया था । उगी का बधो न सोचा जाय ? जब कल्पना ही परती है, तो सुखद कल्पना पर, तेरी दुःखिन्ना और असमर्थ कल्पना के द्वारा अपनी सन-अन बधो क्षीण पर ?

एकाएक किसी अन्तर्प्रेरणा से कामला के नेत्र चमक उठे ।
उमने निश्चय किया—लालसा को अपनी वश-परम्परानुसार संगीत
की शिक्षा देना ही उचित होगा । इस वला मे इसे सफलता अवश्य
घौर शीघ्र मिलेगी । फिर भाम्य मे जो होना होगा, होगा । उसने
एक बार पुत्री की ओर देखा—लालसा के शरीर मे, रूप और
वर्ण मे, भाव और भंगिमा मे, नेत्रो ओर अघरो मे, कोटि और
कक्ष मे सर्वत्र परिवर्तन हो रहा है । सँभव जा रहा है, यौवन
आ रहा है । मुख पर कौन्हल और जिज्ञासा के प्रकृत शिशु-भाव
धीण हो गए है । उनके स्थान पर एक प्रकार की रागमयी तृप्णा
की रेखाये उभरने लगी है । समार से स्त्री और पुष्प के भेद से,
मदम और सकोच मे अर्पिचित आलिया, अब जैसे इन सबको
समझन लगी है । इसकी अन्तर-आत्मा, इसके मन्त्रिक को किसी
अभाव की अनुभूति हो रही है ।

उमने कहा—“लालसा चमकर फलदाही मे खेले, मे भी
आ रही हूँ । आज इच्छुगार के फूल मे नुमह मजाऊँगी ।”

लालसा को अपने बेग-विन्द्यान मे इच्छुगार के फूलो का
हार लगाना बहुत ही प्रिय था । मा की आज्ञा ने उसे पुष्पकित
पर दिया । आनन्दार्तिरेव मे लाली बजाकर खोली — ‘मा ! मच
करती हो न ? अहा, हा ! हा !’ और तरगायित गति मे फुल-
दाही की ओर चली गई ।

वामना से क्षण बेटी साजनी रही — इसकी शिक्षा का प्रबन्ध
कहाँ कहे ? मपुरा, पाँचीवर्म, श्रीनगर, टारका और कामारध्व
जैसे कई स्थानो का स्मरण हुआ, जहाँ संगीत शिक्षा के विद्वान
रहते थे । किन्तु, प्रयाग की अमुविद्या ने उमने कही के प्रति भी
अन्माहित नहीं किया । एकमात्र पुत्री को न लो अकेले भेज सकनी
थी और न यही सम्भव था कि पाँच वर्षों के लिए उमके साथ

जाय । अपनी चल-अचल सम्पत्ति की रक्षा का प्रश्न तो था ही, स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय में भी विघ्न की सम्भावना थी ।

सहसा उसे एक नया मार्ग दिखाई पड़ा—सोमदत्त को ही क्यों न बुला लूँ ? योग्यता में किससे कम है वह ? और, लालसा को पूरे मनोयोग से शिक्षा देगा, यह तो निश्चित ही है । मेरी आज्ञा, मेरी सन्तुष्टि की प्रतीक्षा में उसने क्या नहीं किया ? आह सोमदत्त, तुमने मुझसे प्रेम करने का प्रयत्न किया था; पर मैं उसका प्रतिदान न दे सकी । क्या करती, विवश थी । जानती हूँ कि तुम अपना सर्वस्व मुझ पर बार सकते थे; फिर भी मेरी कुछ सीमायें थी । मैं अपने मन पर नियन्त्रण नहीं कर पाई, अपनी भावनाओं के साथ समझौता नहीं कर सकी । तो भी, यदि मेरे मन में किसी के प्रति तनिक भी उदारता अथवा विश्वास है, तो वह व्यक्ति तुम हो । ओ भगवान !

और, भगवान को पुकारते ही उसका मस्तिष्क अतीत की घटनाओं में उलझ गया ।

कामना जिस परिवार की पुत्री और पत्नी थी, नृत्य और गायन ही उसकी जीविका थी । यह उसका वंशानुगत व्यवसाय था । संयोगवश कामना भी माता-पिता की एकमात्र सन्तान थी । उसका विवाह सीताराम नामक एक सम्बन्ध-शिक्षित युवक से हुआ था । आरम्भ के कई वर्ष तो बड़े मधुर रहे; किन्तु बाद में धीरे-धीरे दोनों के मध्य सैद्धान्तिक मतभेद उभरने लगा । कामना भौतिकता की दासी थी । राग-रग और शृंगार क्लृप्त के प्रति उसमें नारी-मुलभ आकर्षण था । दृष्टि वह आचरण से भ्रष्ट नहीं थी, पति के प्रतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के प्रति उसमें श्रुषा उत्पन्न नहीं होती थी; फिर भी उसकी चञ्चलता सामान्य में कुछ अधिक थी । सीताराम का स्वभाव इनके ठीक विपरीत था ।

वह गम्भीर, शान्त, प्रत्यभारी और दार्शनिक विचारों का था । धर्मग्रन्थों में उसकी प्रतिष्ठा प्राप्त थी । उसकी यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती गई, और उसका अधिकांश समय साधु-मत्तों की संगति में बीतने लगा । अन्ततः एक समय के प्रवचन में उसे पारि-वारिक माया-भोग से इतना विरक्त कर दिया कि एक रात वह चुपचाप उठा और बिना किसी से कुछ कहे-सुने हरद्वार की ओर चल पड़ा । लालसा उस समय तीन वर्ष की थी । माँ-बेटी दोनों मो रही थी । उन्हें सीताराम के गृह त्याग का स्वप्न भी नहीं दिखाई पड़ा । प्रातः जब उठी, तो दियोड़ी के पास एक पत्र मिला । उसी में पता चला कि सीताराम उन प्रभु के चरणों की आराधना करने चला गया है, जो अखिल विश्व के स्वामी और गचालक है । अब उसकी प्रतीक्षा अथवा खोजने का प्रयास न किया जाए । कामना सारी सम्पत्ति की स्वामिनी है वह अपनी इच्छानुसार उसका उपभोग कर सकती है सीताराम की आज्ञा में उस पर कभी कोई प्रभुत्व नहीं लगाया जाएगा । वह आचारिक माया-भोग का परित्याग कर भगवान का दान हो गया है ।

समय का आवरण बड़े-बड़े छिद्रों को ढँक देता है । प्रति व गृह-त्याग के तीन वर्ष पश्चात् कामना फिर स्यावत मनोदया में आ गई । अपने वह पूर्ववत् उत्साह और मनोयोग व साथ नन्द गावन का व्यवसाय चलाने लगी । सीताराम की स्मृति एक अधर्मि स्त्रिया की भाँति लोप रह गई थी, वगैरे । उग्रतः अपने वागमूल्य करने के लिए मोचकर गया था—जाने क्या तो करा हुआ । एक ही ज्ञान की स्मृति में ही तो गए हैं । यह तो अपनी-अपनी रीति है । कोई कुछ चाहता है, कोई कुछ । वह अज्ञान ज्ञान की स्मृति में गए हैं । अज्ञान-ज्ञान प्राप्त करने दो । विधवा तो नहीं हूँ । सुख-भूषण के अर्थों का मुझे नैतिक अधिकार है । हमें क्यों छोड़ दो ?

इस समन्वय ने उसे निश्चिन्त कर दिया। वह निर्द्वन्द्व भाव से पृथ्वी का पौषण करती हुई, दूर-दूर के संगीत समारोहों में भाग लेने लगी।

एक बार प्रयोग में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन था। कामना भी गई। उसके रूप-लावण्य और संगीत-कौशल को देखकर लोग चकित रह गये—यह किन्नरी कहां से आ गई ईश्वर !

दर्शकों में एक बणिक् पुत्र भी था। पूर्ण युवक और स्वस्थ। रागरंग का प्रेमी और अतृप्त कामनाओं का दास। किन्तु शालीनता और संकोच के कारण बरबस संयमी था। भावुकता अधिकता थी; पर उसे व्यावहारिक रूप देने का साहस नहीं था। कदाचित् वह अपने को समाज में 'निलंज्व' कहलाना चाहता था; इस कारण आत्मरति में ही सन्तुष्ट रहता था। कामना को देखा तो तन-मन अर्पित कर बैठा। भूख-प्यास और निद्रा न जाने कहां चली गई। जीवन का एकमात्र लक्ष्य रह गया—कामना की प्राप्ति। और, उसके लिए वह अपना सर्वस्व लुटा देने के लिए कटिबद्ध हो गया।

तीन दिन के अहृतिश मनोमंथन पर विजय पाकर अन्ततः वह सध्या समय कामना के पास गया। दासी से सूचना पाकर कामना ने उसे भीतर बुला लिया। देखा—एक स्वस्थ और सुन्दर युवक आर्क्षों में अतृप्ति और समर्पण का भाव लिए खड़ा कह रहा है—
“कामना देवी ! मैं तुम्हारा दर्शन करने आया हूँ।”

सामाजिक विचारधारा, व्यावसायिक वृद्धि और स्वाभाविक मधुरता के स्वर में, मन्द मुस्कान के साथ कामना ने हाथ जोड़कर उसका अभिवादन किया—“मेरा अहोभाग्य ! आइए, बैठिए।”

युवक दो पग आगे बढ़कर चित्राकित आसानी पर बैठ गया।

“मेरे लिए आज्ञा ?” कामना ने प्रश्न के साथ ही ताम्बूल उसके आगे प्रस्तुत कर दिया।

का सम्मान करती हूँ। बताइए, मैं किस प्रकार का सहयोग देकर आपकी आज्ञा का पालन कर सकूँगी ?”

“मैं जीवन-मथ पर अकेला ही चल रहा हूँ।”

“तो ?”

“मुझे संगी चाहिए।”

“कौन ?”

“तुम।”

कामना युवक की ओर एकाएक देखती रह गई।

“यह भाप क्या रहे हैं ? कहां मैं—नतंकी, समाज से बहिष्कृत घृणा और तिरस्कार का पात्र। और कहीं भाप—समाज के सम्मानित ध्यवित, नगर सेठ के पुत्र, सर्वत्र धादर और सम्मान के लिए आमंत्रित ! मेरे स्वप्न से आपकी प्रतिष्ठा नष्ट हो जाएगी, यह भी तो सोचिए !”

“यह सब सोच चुका हूँ। तीन दिन तक यही सोचता रहा हूँ। धन, सम्मान और दूसरे सुख-साधन मुझे संतुष्ट नहीं कर सकते, यदि मैं तुम से संबंधित हूँ। मेरे लिए सुख और शान्ति का एकमात्र साधारण भय तुम्हारा प्रेम ही रह गया है, वम। दगके अनिश्चित शेष संसार मेरे लिए दून्य है, तुच्छ है।”

कामना ने देगा—युवक की वाणी में गम्भीरता है और चेष्टा में संयम। निश्चय ही यह मेरे ऊपर प्रभुरवन हो चुका है, और जो कुछ भी कहूँगी, बिना विवाद-प्रतिरोध के स्वीकार कर लेगा।

‘तो ? क्या दत्ते करण कर लूँ ? मैं भी तो घरेली ही हूँ। बिना एक गली के, बिना सम्बल के जीवन बितना बक है, जितना घस्थिर है ! मय कुछ अनिश्चय जैगा !’ मन में उमड़े भावों को संतुलित कर एक बार उसने मोमदत्त की घलाभेदी दृष्टि से देगा; फिर जैसेकुछ मन्त्र होकर बोली—“क्या आप अपना विचार बदल

नहीं सकते ? मैं चाहूँगी कि आप यही करें। मैं आपके योग्य नहीं हूँ।”

“इसका अर्थ यह कि मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। ठीक है न ?”

“क्या वह रहे हैं आप ! वह ससार की सबसे अधिक भाग्यशाली स्त्री होगी, जो आपको वरण करेगी। ऐसा गम्भीर और निश्चल प्राण भी सहज-मुलभ नहीं होता।”

“फिर तुम क्यों ठुकरा रही हो ? जो तुम्हारे लिए सुलभ है, उमके लिए स्वयं को क्यों दुर्लभ बना रही हो ?”

“ऐसा तो मैंने नहीं कहा।”

“फिर ?”

“आप मुझे सोचने का समय दें।”

“कब तक ?”

“परसो माय घाटलगा।”

“किन्तु मेरे लिए आनाजनक निर्णय कर रखना।” कहकर युवक उठा और आत्म-समर्पण के भाव से दृष्टि-भ्रमण करके चला गया।

वामना बँटी सोचती रही—‘कौमी लीला है प्रभु की ? क्या इस युवक का प्रस्ताव स्वीकार करा लूँ ? क्या मेरी रिक्तता को यह दूर कर देगा ? आह ! रात्रि की नीरव पड़ियों कभी-कभी कितनी कष्टकर हो उठती हैं। यह युवक—मीम्य, गालीन, घनी और प्रणयी मव कुछ तो है ! फिर ? क्या बहूँ भगवान् !’ उसने भावा-बुद्धि हींकर मंत्र मूँड लिए। बदाचिन् अन्नर्यामी के निर्दोष की प्रतीक्षा करने लगी थी।

सहसा वह चीक पड़ी। ध्यानस्थ अवस्था में उसे प्रतीत हुआ कि सामने सीताराम, परती से पीछ हाथ ऊपर घघर में खड़ा, घोर विद्वेष के साथ अट्टहास करता हुआ वह रहा है—

‘स्त्रियश्चरित्रम् देवो न जानाति ।’

किसी दुःस्वप्न का सा यह दृश्य देखकर उसकी आँखें खुल गईं। भयकातर होकर इधर-उधर देखने लगी। कहीं कुछ नहीं। वही क्या था, और वही साज-सज्जा ! न सीताराम की छाया, न सोमदत्त का अस्तित्व। किंतु वायु में अब भी वही कंकश कण्ठ स्वर गूँज रहा था—

‘स्त्रियश्चरित्रम् देवो न जानाति ।’

कामना की हृदय स्पंदन गति बढ़ गई। मुख पर स्वेद त्रिदु भलक आए। भाव-विह्वल होकर उठी और क्षिप्र गति से बाहर की ओर निकल गई। कक्ष का कण-कण उसे मस्त करने लगा था। प्रसाधन और विलास के सारे उपकरण सीताराम की प्रति मूर्तियों जैसे प्रतीत होने लगे, जो वही व्यंग्यमय अद्भुतहास करते हुए कह रहे थे—

‘स्त्रियश्चरित्रम् देवो न जानाति ।’

और, तीसरे दिन संध्या समय जब सोमदत्त आया तो उसने स्पष्ट कह दिया—“आपकी भावनाओं का मैं सम्मान करती हूँ; किन्तु पति रूप में आपको वरण नहीं कर सकूँगी। मैं विवाहित हूँ और एक पुत्री की माँ भी। मुझे ऐसे ही रहने दीजिए। आपकी पत्नी बनने का सौभाग्य मैं नहीं पा सकती। आप मुझे क्षमा करें।”

सोमदत्त हत प्रभ रह गया। उसे धरती घूमती हुई सी प्रतीत हुई। ऐसे विपरीत उत्तर की आशा उसने नहीं की थी। मग्न स्वर में बोला—“तब कोई बात नहीं, मैं जा रहा हूँ। किन्तु इतना निश्चित कि मैं अब अपने पर संयम न रख सकूँगा। मेरा मस्तिष्क विशिष्ट हो जाएगा और विशिष्टों की भाँति शीघ्र ही किसी दिन मैं किसी घटना का प्रास बनूँगा। प्रभु तुम्हें सुखी रखे।”

दूसरे क्षण वह एक झटके के साथ उठा और बाहर की ओर

लौट पड़ा ।

कामना की बुद्धि कुंठित हो गई । यह निश्चय नहीं कर पाई कि क्या करे । जड़बन् खड़ी रही । एकाएक उगके मन्त्रिष्क में एक विचार बीधा—वे पति-पत्नी सही, मित्र बनकर तो हम रह सकेंगे । वह पुरुष है और मैं नारी । एक-दूसरे के लिए सबल-सहायक बन सकते हैं । उगे मित्र भाव से स्वीकार कर लेना ही उत्तम होगा ।

ध्रुव तक सोमदत्त चबूतरे की सीड़ियों पर पहुँच गया था । कामना ने मद्देग धागे बड़कर उसे पुकारा—“धरे, मुनिये तो !”

भग्नहृदय सोमदत्त को यह वाक्य ग्राह्यान् ग्राह्या वा ग्राह्यान् प्रनीत हुआ । घूमकर पीछे देखा, तो कामना बुला नहीं थी । भानुर पगों से लौट आया ।

पास आ जाने पर कामना ने कहा—“आपके प्रेम की गभीरता मैं समझ रही हूँ । उमका सम्मान भी करती हूँ । इसलिए इतना कर सकती हूँ कि यदि आप चाहे, तो मैं मित्र रूप में आपको स्वीकार कर सकती हूँ । श्रेष्ठ मन्त्र मन्त्र्य आपसे प्रति उदार और समर्पित रहेगा; किन्तु नन नहीं । दो मित्रों में कितनी घनिष्ठता होती है, वह मैं निमाने के लिए बचन देती हूँ । यदि आप समय से रहे, मेरे साथ भी छल-प्रपच न किया, तो जीवन की प्रतिम साँस तक आपको मित्र रूप में साथ रखूंगी । कताडाए, क्या इनने से आप मतुष्ट हो सकेंगे ?”

सोमदत्त कामना के रूप पर द्विवेक-रहित-मा मुग्ध था । वह किसी भी प्रतिबन्ध को स्वीकार कर सकता था, यदि कामना का गामीष्य मिलने की सम्भावना होती । मित्र होना भी सहन मुलभ नहीं होता । अतरण मित्र होकर तो वह कामना के पति का स्थान ले ही लेगा यह उसकी निश्चिन धारणा थी । बोला—

“सर्वस्व का मोह त्यागकर अर्धं भाग से भी सन्तुष्ट हो जाऊंगा। तुम्हारे प्रति वासनाजन्य उन्माद से प्रेरित होकर नहीं, प्रणय की मधुर भावनाओं का सन्देश पाकर अनुरक्त हुआ हूँ। तुम्हारी मित्रता को भी वरदान के रूप में स्वीकार करूँगा।”

“तब ठीक है। मैं भी आपका सामीप्य पाकर स्वयं को भाग्य-शालिनी बनाने का प्रयास करूँगी। किन्तु एक प्रतिबन्ध है—”

भावना-सरोवर में तैरता हुआ सोमदत्त जैसे किसी चट्टान से टकरा गया। ‘प्रतिबन्ध’ शब्द ने उसे शक्ति कर दिया। पूछा—
“क्या है वह प्रतिबन्ध ?”

“यही कि—” कामना एक क्षण को रुकी; फिर स्पष्ट स्वर में बोली—“आप अपने समस्त परिवार और सम्पदा से पृथक् होकर पहले कुछ दिन कहीं भारतीय संगीत का शास्त्रीय अध्ययन कर लें। ताकि हम दोनों कहीं भी रहें, एक-दूसरे के पूरक बन सकें।”

सोमदत्त एकटक उसकी ओर देखता रहा।

कामना ने फिर कहा—“पतिदेव मुझ से विरक्त होकर साधु हो गए हैं। उन्हें संन्यासाश्रम से भी विरक्त करूँ, तो इससे बढ़कर जीवन की विडम्बना और क्या होगी? मेरी शुभ कामनाएँ आपके साथ हैं। जाकर किसी संगीताचार्य की चरण रज के सहारे, इस कला में निपुण हो जाइए; फिर हम दोनों एक-दूसरे के अति निकट आ जायेंगे। इससे अधिक आपके प्रेम का प्रतिदान मैं नहीं दे पा रही।”

सोमदत्त को बात लग गई। उसका पौरुष अँगड़ाई लेकर उठ बैठा। सोचा—तो क्या मैं ऐसा नहीं कर सकता? संगीत के प्रति अनुराग तो मुझ में है ही। प्रयास करने पर मुझे सफलता अवश्य मिलेगी। उसने खड़े होकर कहा—“सुन्दरी! तन-मन तुम पर वार चुका हूँ; इसलिए जो भी कहोगी, करूँगा। वैसे भी तुम्हारी

ज्ञान का दीविन्द मैं स्वीकार करता हूँ । यदि मैं संगीत का ज्ञान हो गया तो स्वभावतः मेरे प्रति नृसिंहारी रुचि बढ़ जायगी । धन्य धर में जाता हूँ और भगवान की कृपा रही तो किसी समय नृसिंहारे निर्देशानुसार संगीत-विद्या शीघ्रकर अपना जीवन साधक करूँगा ।" और दिना उगार की प्रतीक्षा किए बिन्दु केग में चला गया ।

भावना और वर्तन्ध की क्षमा में धन्य कामना धनमर्ष की भांति घँटी देगनी रह गई ।

फिर . .

पाँच वर्ष बाद उग्रशिविनी के गगीनाचार्य रामदेव का धाशोर्षाद लेकर जब वह लौटा तो देगकर कामना चकित थी इनने दिना की मपर्या मे मीयदम का धनिसय नेजरवी बना दिया है । नेत्रो मे धाम्म-विश्राम की ज्याति प्रगर हो उठी है । धधीनता और घाचना का लोप हो गया है । मुग पर वह नेत्र है जो किसी को भी पराजित-प्रभावित करन की क्षमता रखता है । बृष्ट स्वर इनना मधुर और मयमित हो गया है कि साधारण घातचीत मे भी संगीत जैसा प्रतीत होता है ।

और जब वह पता चला कि सोमदत्त ने अनेक प्रकार के वाद्य यंत्रो का भी ज्ञान प्राप्त कर लिया है, तब तो कामना अपना सारा गर्व भूल गई । दिनीत भाव मे उसके सामने झुककर वितय-पूर्वक कहा—“सचमुच, अब आपको अपना मित्र बनाने मे गौरव का धनुभव करती हूँ ।”

तब से दोनो मे धारमीयता और विश्राम का भाव बढ़ गया और वे मित्रवत एक दूसरे के समीप रहने लगे ।



“वत्स सीताराम !” स्वामी सहजानन्द ने चलते-चलते एका-एक पीछे घूमकर अपने शिष्य को सम्बोधित किया ।

“हाँ प्रभु !” हाथ जोड़कर सीताराम उनके आदेश की प्रतीक्षा करने लगा । गुरु-भक्ति की भावना उसमें प्रति क्षण सजग रहती थी ।

“थक तो नहीं गए ?”

सीताराम गुरु से झूठ बोलने का साहस नहीं कर सका । अपनी दुर्बलताएँ वह उनसे प्रकट कर देता था । नतमस्तक होकर बोला—“आप आज्ञा दें प्रभु, यथासामर्थ्य सेवा में त्रुटि नहीं होने दूँगा ।”

स्वामी सहजानन्द ने उमकी ओर प्रमत्न दृष्टि से मुस्कराकर देखा ।

यह सीताराम वही था—महत्वाकांक्षिणी गायिका कामना का पति, जो विरक्त होकर घर से सदा-सर्वदा के लिए चला आया था ।

स्वामीजी ने कहा—“तुममें ईश्वर के प्रति अडिग आस्था और मदाचरण के प्रति निष्ठा देखकर ही मैंने अपने साप लिया ; अन्यथा मुझे एवान्न अधिक प्रिय है । धर्म भी भक्ति और मापि एवान्न में ही पूर्ण होते हैं । भीड़ और कोलाहल में मन

की एकाग्रता भंग हो जाती है। विचारों का म्यावित्व एकान्त में ही सम्भव है, जन-संकुलता में नहीं।”

“किन्तु, महाराज !” मैंने देखा है कि अधिकांश साधु-महात्मा अपने पास सदैव शिष्य-मंडली बिठाये रखते हैं। भक्तों और दर्शनार्थियों से घिरे रहने पर भी वे अपनी तपस्चर्या करने रहते हैं।”

स्वामीजी हँस पड़े।

गीताराम उस हँसी में निहित सवेत को समझ नहीं गया। जिज्ञासु दृष्टि से उनकी ओर देखता रहा।

स्वामीजी का उम पर महज स्नेह था। बोले—मैं किसी की निष्ठा नहीं करता, पर मन्व्य यही है कि हमारे साधु-समाज में भी सब सामाजिकता का प्रवेश हो गया है। प्रदर्शन और प्रचार के द्वारा अपने को विख्यात करने की भावना से ही हम लोग अपने आम-वास भीड़ लगाए रहते हैं। धन-सम्मान का लोभ इस प्रेरणा का मूल कारण होना है। इसी से यत्न होकर कुछ लोग पथ से विचलित हो जाने हैं और उनके द्वारा पापपुण्ड तथा आडम्बर को प्रथम मिलता है।”

गीताराम चिन्तित रह गया। अपने समाज की ऐसी कटु किन्तु सघर्ष आलोचना कोई साधु कर सकेगा, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। गुरु की स्पष्टवादिता, जिसमें आत्म-दुर्बलता की सहज स्वीकृति थी, देखकर उसका मन थड़ा से भर गया। मनमस्नक उनके चरण छूकर बोला—“प्रभु ! अज्ञानवश मैंने बँगा बहू दिया था। यन्तुन साधु-समाज सदैव ही बँध है मुझ, जैसे मायाभोग से निष्पन्न सतारी प्राणी को उनकी निष्ठा, तपस्या और साधना पर क्रुद्ध बहने का अपेक्षित है भी नहीं। मुझे क्षमा कीजिए।”

स्वामीजी को लगा—गीताराम का मन ग्लानिवश कुटित

हो गया है। उसे संकोचमुक्त करने के लिए कहने लगे—“मैं प्रसन्न हूँ कि तुमने ऐसा यथार्थ प्रश्न उठाया। विषय का सम्बन्ध हमारा-तुम्हारा वैयक्तिक नहीं, सारे समाज से है। और, आज ही नहीं, सदा से गुण-दोष संसार के प्रत्येक प्राणी में रहते आए हैं, रहेगे। यह सृष्टि का एक शाश्वत नियम है।”

“फिर भी मनुष्य विवेकशील होता है, और साधु को तो ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उसकी दृष्टि सामान्य मनुष्यों से भिन्न होती है। वह किसी भी प्रकार का हो, सामान्य होता है।”

“यह केवल भावना की बात है, यथार्थ रूप इसके सर्वथा विपरीत है। रामायण और महाभारत के काल में भी बंधकों-पाखंडियों का अस्तित्व रहा है। कालनेमि की कथा सुन चुके हो न! आज के युग में कितने ही साधु दीखने वाले व्यक्ति, वास्तव में उसी के प्रतिरूप होते हैं। यही कारण है कि अब दिन-प्रति-दिन धर्म का ह्रास होता जा रहा है और जन-सामान्य के मन में ईश्वर के अस्तित्व को लेकर शंकाजन्य विवाद उठते रहते हैं।”

सीताराम ने देखा—स्वामीजी स्पष्टवक्ता है। न अपने प्रति दुराग्रह है, न दूसरे के प्रति तिरस्कार। वे जो कुछ कह रहे हैं, सर्वथा निर्विकार मन से और स्वानुभूति के आधार पर ही। गद्गद होकर बोला—“आपका आदेश शिरोधार्य है महाराज !”

स्वामीजी को स्मरण हुआ—मैंने उससे थकान का प्रश्न किया था। कहने लगे—“मुझको ही देख लो, कहीं तुमसे विधाम के लिए पूछ रहा था, और कहीं प्रसंग की सीमा से परे जाकर दूसरों की आलोचना करने लगा। इसी से तो कहता हूँ कि मनुष्य-सत्र दुर्बलताओं का दास है। ज्ञान का दंभ करने वाले भी दुर्गुणों का आगार होते हैं।”

सीताराम ने कोई प्रतिवाद नहीं किया।

में कह रहा था—स्वामी सहजानन्द एक क्षण तक रुककर बोले—“सूर्यास्त निवट है। तुम निश्चय ही थक गए होंगे, क्योंकि ब्रह्म-मुहूर्त से अब तक अविश्राम गति से चलते रहे हो। भतः उस मन्दिर के पास रात में विश्राम कर लो। प्रातः ब्रह्म-मुहूर्त में फिर चलेंगे।” और उन्होंने सामने दीख रहे एक मन्दिर के शिखर की ओर संकेत किया।

गुरु के अंगुलि निर्देश की ओर सीताराम ने देखा—लगभग कोस की दूरी पर किसी मन्दिर का स्वर्ण-कलश अस्तोन्मुख सूर्य की किरणों से प्रदीप्त होकर अपने संस्थापक की कीर्ति विकीरित कर रहा है। निश्चय ही स्थान रमणीय और शान्तिप्रद होगा, हम प्रेरणा से उमने कहा—“यह बहुत ही शुभ है स्वामीजी ! यत्रा में विश्राम के लिए देवस्थान का मामीष्य प्रायः दुर्लभ रहता है, पर मेरे लिए आपके पुण्य प्रताप से इस निर्जन वन में वह भी सहज मुलभ हो गया।”

“चलो चलें, सूर्य भगवान भी विश्राम करने जा रहे है। थोड़ी देर में घोंघेरा छा जाएगा।” कहकर स्वामीजी सामने की पगडंडी पर अग्रसर हो गए।

सीताराम पीठ पर उनका बम्बल और पूजन सामग्री लादे प्रगल्भ पगों से चलता रहा। अपने गुरु की विद्वत्ता, दिव्य ज्ञान और शौक्य पर उसे अगाध श्रद्धा थी।

और उसी रम्य थडा के मूल्य में अन्धविश्वास नहीं, पिछले कई वर्षों का अनुभव था। लक्ष्मण, स्वामी सहजानन्द का व्यक्तित्व प्रियदर्शी था। और वरुण, तेजस्वी नेत्र, जिनमें शान्ति और क्षमा भावकरी रहती थी, ज्ञान-नारिमा का सूक्ष्म प्रसरण सलाट, प्रशान्त मृगमण्डल, जिन पर सुविता सूचक दिव्य कानि छाई रहती थी, और अमृत वर्षा करने वाली मधुर वाणी। वे दानब्रह्मचारी थे।

शाहजहाँ कुतूहल में उलझ चुके थे, तिनसे सन्तोषीय गंगार के मन्दिर
 विद्यालय के लिए काफी ज्ञान की अभिन्न परम्परा का विरोध
 करने गणमुष ही काफी बने गए थे । माता-पिता, बृद्धों और
 पुत्रों गण गणभा-बुद्धाचार हार गये, पर स्वामीजी छोटे नहीं ।
 गण उनका नाम गणमहान था । उन्हीं विरोध राममहान ने काफी
 ज्ञान अक्षयन विद्या और कामान्तर में मुह में दीक्षा लेकर युवा-
 यम्पना में प्रथम परगना में ही मन्वासी हो गया । मुह ने नानकरण
 विद्या का महानन्द । यही महानन्द सब गीताराम के मुह थे ।
 गारे भाग्य का कई धार पर्यटन कर चुके थे । वेद-वेदांग में पारंगत,
 साधनज्ञ और पुराणों के अध्येता थे । योग, प्रायुर्वेद, सगीत और
 अन्य कई जटिल विषयों के ज्ञाता थे । तिनसे इतनी दामना, इतनी
 प्रतिभा और ऐसी स्वयं गन-मन पारर भी वे अनिश्चय सरण
 मन, उदार और निरपृह थे । अन्धकार को उन्होंने पूर्णतया निरस्त
 कर लिया था और मन्वह की प्रवृत्ति से कोमों दूर थे । सम्पदा
 नाते उनके पास एक नारियल का कमण्डलु, एक कम्बल, खडाऊँ,
 कौपीन, फापायवस्त्र और दण्ड था, वग । भोजन की कोई चिन्ता
 न थी । जब जो कुछ मिल जाता, वही पर्याप्त होता था ।

मन्दिर की छाड़ी दूरी पार होते-होने सूर्य का रथ भी बादल
 की छोट में छिप रहा । ठीक इन्ही समय पश्चिम दिशा से कपोतों
 का एक भुण्ड उड़ता हुआ पूर्व की ओर गया, जैसे अन्धकार ने
 आकाश में अपनी विजय-पताका फहराई हो । दूर कहीं कोई
 शृगाल चिल्लाया; मानो रात्रि का प्रतिनिधि शंख-ध्वनि कर रहा
 हो । धीरे-धीरे दिग्दाह मिटने लगा और अन्धकार की कालिमा
 वातावरण में व्याप्त होने लगी । स्वामीजी ने सीताराम से आश्वासन
 भरे स्वर में कहा—“बस, अब था गए । वह देखो, मन्दिर की
 दीवार दिखाई दे रही है ।”



में श्रुताकार लड़के मन्दिर के कृष्ण बत्तेवर की घोर देखते हुए
पूजा ।

“प्रयाग के एक बटिक ने । वह लक्षाघोष था । किन्तु अपार
गम्भिर होते हुए भी वह मन्तानहीन था । सन्तान कामना से ही
उमने इस मन्दिर का निर्माण कराया था, किन्तु मूर्तियों के अभाव
में उसका मनोरथ पूरा नहीं हो सका ।”

“वह मूर्ति कहीं थी ?” जिज्ञासा और चौकूल ने सीताराम
को खिन्न कर दिया था ।

“प्रयाग में । वह आज भी वहाँ विद्यमान है ।”

“कहाँ !”

“ही, विचार ही, तो लौटने समय देव लेना ।”

‘भारते तो अक्षय ही उसका दर्शन किया होगा ।’

बई बार ।”

प्रयाग में गणेश के पास टीक श्रुता किनारे ही हनुमानजी
की एक विशालकाय प्रतिमा है । वह मयन-मुद्रा में वहाँ स्थापित
है । बर्दाश्तु आदिबाल में है, क्योंकि उसके निर्माण अथवा
स्थापना का कोई दृश नहीं मिलता । वह वर्ष के नौ महीने सूखी
पृथ्वी में रहती है और वर्षा ऋतु में जब यमुना का जलस्तर बढ़
जाता है, उगी में डूब जाती है । फिर तीन महीने उसका दर्शन
दृश्य रहता है । इसी व पास एक शिव-लिंग था । किन्तु अब वह
रही है । बर्दाश्तु लुप्त हो गया ।”

‘तो क्या बटिक ने उगी शिव-लिंग को वहाँ स्थापित करने
का विचार किया था ?’

‘ही, किसी उज्ज्वल में उसे बताया था कि प्रयाग में
यमुना के लड़के शिव और हनुमान की दो प्रतिमाएँ भूगर्भ में
रहने कर रहीं हैं । यदि उन्हें इस मन्दिर में स्थापित कर सको,

“यह तो मूर्तिया का प्रपमान था।

“फिर भी उसे सफलता नहीं मिली।”

“हाथी चले नहीं थे ?”

“चले थे; किन्तु धकेले। मूर्तियों को वे खींच नहीं सके।

ज्योही महावत् ने भ्रुकुच मारा, दोनों हाथी धोष से चिंघाड़ उठे। घबरे घरोर से बंधे हुए भार का उन्हें बोध हो गया था। उन्होंने मूंड उठाई और पूरी शक्ति से मूर्तियों को खींचने के लिए पैर बढ़ाये; किन्तु कृतकार्य न हो सके। वे मोटी-मोटी लौह शृंखलाएँ पटककर इस प्रकार टूट गईं, जैसे मृणाल टण्ड हो। एक नहीं, अनेक बार यही उपाय किया गया और परिणाम भी सबका यही निकला।”

“अन्ध हो भगवन् !” सीताराम न भावाकुल होकर आकाश की ओर हाथ जोड़ दिए।

“दुमरे हाथी मँगाए गए, दुमरी शृंखलाएँ धाई, दुमरे श्रमिक भ्राए, किन्तु परिणाम वही रहा। समाचार पाकर बहुत-से नगर निवासी भी धा गए थे। वे सब बौद्धमन्त्र लखे देते रहे थे, और बलिष् चपन एक प्रयाग में अमफल हाकर दुमरा प्रयाग करने लगता था।”

“उमें चपन दुगडह व उपहास चपवा निरन्वार का भय भी नहीं रह गया था, अन्धवा ऐसा कृत्य न करता।”

“दैन बनाया न, कि स्वाधं मे विवेक नष्ट हो जाता है। बलिष् को लोभ न औरिचय को सीमा से बाहर कर दिया था। वह उस मूर्त पक्षी को भक्ति प्रयागरत था जो दरंग मे चपनी ही छाया पर बहुप्रहार करक स्वयं को क्षत-निवृत्त कर सेता है।”

“ही स्वामीजी, निरचय ही वह बलिष् विवेकरहित था।”

“रत मे उसे स्वयं कृपा कि मे अनादि काल से यही हूँ और



स्वामीजी ने परम संतुष्ट भाव से उसे धारवस्त किया—“एक पहर रात जा चुकी है। भब विश्राम करो। मैं ब्रह्म-मुहूर्त में जगा दूंगा। किन्तु बोलना मत, चुपचाप मेरे पीछे-पीछे चल देना। यह यात्रा मोन धारण करके ही पूरी होगी। मोन भग होने में हम घपने लक्ष्य को नहीं पा सकेंगे, इसे न भूलना। जब तक मैं सम्बो-धिन न बन्द, चाहे जैसी स्थिति आ जाए, तुम एक भी शब्द न बोलना।”

“जैसी आज्ञा प्रभु।” सीताराम ने हाथ जोड़कर गुरु का निर्देश स्वीकार किया।

ठीक इसी समय वही आवाज में उठ रहे माग्यों के जोड़े का स्वर वायुमण्डल में गुंजा।

गुरु और शिष्य दोनों ‘ॐ नमो नारायण वा उच्चारण कर निद्राधीन हो, सोने लगे।

रात का तीसरा पहर आरम्भ होना पर स्वामीजी की निद्रा भंग हुई। उठे। आवाज की ओर देखा। लगे अभिसन्धि रहे थे। पूर्व में दृष्ट गृह उदय हो रहा था और वायु में स्थिर घ घीपवना था गई थी। उन्होंने सीताराम का जगान का विचार किया, फिर न जाने क्या सोचकर स्व गण। बदाचित्त उसकी बलात्ति पर इन्दित हो गए थे। किन्तु यात्रा पूर्ण करना भी आवश्यक था।

तब ?

एक क्षण के लिए वे विचारमग्न हो गए। महता काई उपाय कल्पितक में बौध गया। प्रसन्न हो उठ और कमण्डलु में घबुली में जल लेकर सीताराम के ऊपर टिपक दिया।

वह जल माधारण नहीं था, अभिसन्धि था। उसमें आरम्भ का सम्भव और अकल्पित का प्रत्यक्ष कर दिखान की क्षमता थी। उसकी बूँदें जैसे ही सीताराम के ऊपर पड़ी, उसकी निद्रा समाप्त

सूर्योदय बेला समीप थी। गुरु को प्रणाम करके उसने कहा—
 “महाराज ! यकान के कारण ऐसी निद्रा घाई कि समय का
 ध्यान ही नहीं रह गया। क्या आप बहुत देर पहले से जाग रहे
 हैं ?”

स्वामीजी ने मुस्कराकर उत्तर दिया—“जो भी हुआ, सब
 ठीक था। सब उठो और निवृत्त होकर चल दो। अभी एक कोस
 चलना है।”

‘एक कोस ! तो क्या उनकी सब दूरी केवल एक कोस में
 ही मिमटकर रह गई है ? सोताराम चकित हो उठा। गुरु के
 वाक्यों पर उसे कुछ भ्रम हो गया।’ सोचने लगा—कदाचित् मैं
 ठीक से मुन नहीं पाया। पूछने के लिए स्वामीजी की ओर मुंह
 उठाया तो भास-पास का दृश्य देखकर स्तंभित रह गया। वहाँ न
 पिछली सध्या वाला मन्दिर था, न बिल्ब वृक्ष और न ही वह
 कुर्पा। उस स्वप्नवत् परिवर्तन को देखकर वह दायेंक की अभि-
 भूत रह गया, फिर स्वामीजी से हाथ जोड़कर बोला—“प्रभु ! मैं
 दिग्भ्रमित हो रहा हूँ। यह दृश्य उस स्थान से भिन्न प्रकार का
 है, जहाँ मैं सध्या को सोया था। मेरा कौतूहल शान्त कीजिए।”

“हाँ, यात्रा आवश्यक थी; किन्तु तुम क्लान्तिवश सो रहे थे;
 भ्रम मैंने तुम्हें जगाया नहीं, अपने साथ लिए चला आया।”
 स्वामीजी ने निरभिमान स्वर में बताया।

“धरे ! आप मुझे टाँगकर लाए ! मेरा यह अपराध अक्षम्य
 है गुरुदेव ! इससे मृत्ति कैसे या सर्वांग !” सोताराम ने भक्ति
 विह्वल होकर उनके चरणों पर मिर रख दिया।

“उठो, बिलम्ब करना उचित नहीं है। थोड़ी दूर चलकर हम
 पाण्डुपुरी की सीमा में प्रविष्ट हो जाएंगे। उसी के आगे, एक घने
 वन में महात्मा जीवदाम का आश्रम है। वहाँ पहुँचकर विस्तार से



‘मैं वही तुम्हारा भगवान तो सामने लड़ा हूँ भक्तवर ।’ उस देवता ने फिर समझाया ।

किन्तु जिद्यालाल सन्तुष्ट नहीं हुए । बोले—‘यदि सचमुच आप मेरे धाराध्य प्रभु हैं, तो चलकर मेरे नगर में निवास कीजिए । मैं वहीं भी आपके चरणों में रहना चाहता हूँ ।’

‘तुम्हारा अनुरोध मुझे स्वीकार है । चलो, मैं कुछ दिन पीछे तुम्हारे आश्रम में आऊँगा, जब इच्छानुसार मेरी निवास-व्यवस्था कर लेंगे ।’

जिद्यालाल ने गद्गद होकर प्रणाम किया, किन्तु जब सिर उठाकर ऊपर देखा तो वह देवप्रतिमा ध्वस्त हो चुकी थी । ठीक इसी समय पाम की गुफा में त्रिगो नपम्बी ने शपथकी की । मुनकर जिद्यालाल चौक पड़े । निद्रा भंग हो गई । उठ बैठे । देखा तो सूर्योदय बाल निकट था गया था । दाढ़र आण । निकल होकर बड़ीस की पूजा की घोर उसी मध्याह्न को अपने नगर की घोर घर पड़े । न जान बोन रह रहकर उन्हे स्वयं-सवाद पर आइवस्त कर रहा था ।

बार्ता में विराम होकर स्वामीजी न नि स्वाम लिया घोर घोर हो गए ।

सीतागम न गोचा - बर्दाचत स्वामीजी यह गए है अन्यथा क्या का शेष भाग भी गुनाह । उसने पूछा महाराज क्या विश्राम करेंगे ?

“ॐ समोत्तारायण । का उच्छाणन करके स्वामीजी न उत्तर दिया - ‘नहीं । अभी बस चला । घोर एक घमटाया है बही टहरेगे ।’

‘विर जिद्यालाल का क्या हुआ प्रभु ।’ सीतागम न सकुचिन बबर में अपनी जिज्ञासा व्यक्त की ।



बड़े-बड़े बुद्धिवादियों को भी मूक कर देता है ।" स्वामीजी ने शीताराम के सिर पर हाथ फेरकर आशीर्ष दिया ।

शीताराम उठा और नितान्त क्रोध बालक की भाँति गुरु के पीछे-पीछे चलने लगा ।

गृह त्याग के पश्चात् शीताराम ने कभी उमका स्मरण भी नहीं किया । धन, सम्पदा, पत्नी और पुत्री सब उसकी दृष्टि में तूणवत् हो गए थे । वह सर्वस्व त्यागकर इस पथ पर आया था । बहुत दिनों तक स्वामी महज्जानन्द के शिष्य के रूप में रहा । फिर उनकी आज्ञा से विधिवत क्रिया निष्ठा के द्वारा मन्धानाथम में प्रविष्ट हुआ और स्वतन्त्र माधु के रूप में विचरने लगा । घूम-घूमकर ईश्वर के सभी तीर्थ स्थानों, विद्यालयों बौद्ध-बिहारों, जैन मन्दिरों और बनो पर्वतों का भ्रमण ही उमकी दिनचर्या बन गयी ।

इस क्षेत्र में आकर उसने सम्पूर्ण का अध्ययन भी कर लिया और बड़े-बड़े धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने लगा था । अपनी तपस्या के लिए वह जितना प्रसिद्ध हुआ उतना ही विद्वानों के लिए भी । बड़े-बड़े विद्वान उसके सम्मुख नतमस्तक हो जाते थे । पर उमसे पहचान नहीं आता । सर्व्व वंसा ही विनीत, निर्गुण बना रहा ।

माधु जीवन अपनाते पर उसका नाम राघवदास हो गया था । उसकी भारी ख्याति इसी नाम से हुई । महात्मा राघवदास की धर्मा सर्व्व होती थी । किन्तु वह राघवदास पहले का शीताराम गायक है, यह भेद किसी को नहीं ज्ञान था । राघवदास ने कभी इसे प्रकट भी नहीं किया । व अपनी वर्तमान में मञ्जुष्ट थे । जहाँ भी जाने, सनत्कुमारों जैसे उनकी शायंता होती थी ।

एधर पर में कामना यह स्वतन्त्र थी— निरगुण । मुझ भाव से सगीत का अध्ययन करती रही । गायन-बादन और नृत्य में

खट्-खट्-खट् !

भीतर सोमदत्त बैठा कुछ पढ़ रहा था। ध्यान भंग हो गया।

उमने सिर उठाकर द्वार की ओर देखा।

तब तब कुण्डी फिर खटकी—खट्-खट्-खट् !

'कौन है ?' सोमदत्त ने स्वयं से प्रश्न किया और उठकर द्वार की ओर चला। अनुमान नहीं कर पा रहा था कि कौन आया है ?

द्वार खुलने ही उसने देखा—कामना का एक सेवक खड़ा कह रहा है—“सोमजी ! (वह आशुकाक्ष वृद्ध में इसी शब्द से सम्बोधित होता था) आपकी स्वामिनी ने बुलाया है। कहा है—मैं मुरन्त दर्शन करना चाहती हूँ।”

“कोई विशेष बात है ?” सोमदत्त ने चकित होकर पूछा।

“बढ़ नहीं सकता।” सेवक ने हाथ जोड़ दिए।

“वे स्वस्थ हैं न ?”

“हाँ, सोमजी ! कोई बंसी आशुकाक्षनक बात नहीं है। कदाचित् किसी निजी विषय पर बातें करना चाहती है।”

सोमदत्त आशुवल हो गया। कामना के प्रति जो दुश्चिन्ता की छाया उसके मस्तिष्क में उठी थी, मिट गई। बोला—“टहरो अभी राय चलता हूँ।”

“कोड़ी देर बाद बढ़ बपड़े पहनकर कामना से मिलने चल

अपने देग का शास्त्रीय संगीत मुझे बहुत प्रिय है। सामाजिको में भी भरत-नाट्यम और मणिपुरी की प्रशंसा आज भी अधिक हो रही है। इन दोनों विषयों में लालसा को पारगम होना है। अति-रिक्त ज्ञान जो प्राप्त हो सके, उसे विशेष कृपा मानूँगी।

एक क्षण विचार मग्न रहकर मोमदत्त बोला—“तब तो दैनिक रूप में शिक्षा देनी होगी।”

“वह तो होगा ही।”

मोमदत्त चुप रहा।

कामना ने उसके घन्टदुंठ का अनुमान करन ही कहा—

“यही, मेरे पास आकर रहो। मागे कृविषयें मुलभ रहेगी। लालसा छोटी पहर तुम्हारे नियन्त्रण में रहेगी। उसे जब भी, जैसे देग से चाहो, शिक्षा देकर योग्य बनाओ। इस प्रकार हम तुम भी एक-दूसरे के प्रति निकट रहेंगे और हमका मैं हृदय में आभार मानूँगी।”

मोमदत्त ने देखा—कामना का स्वर कुछ अधिक दिनअ लगन और सरस हो गया है। उसकी आँखों में एक आनुरता एक चंचलता झींक रही है। पहले का विराग-अवधान आज बहुत दूर चला गया प्रतीत होता है।

मोमदत्त के भीतर एक प्रकार की स्फूर्ति जैसी दौड़ गई। न जाने कौन-का सोया हुआ भाव एक बाग्मी जाग पड़ा। उसने इनने उत्थाम और आनुरता के साथ कामना का निवेदन स्वीकार कर लिया, जैसे किसी नव विहीन धरविन का दिव्य-दृष्टि मिल गई हो।

वस्तुतः कामना का सामीप्य ही उसके जीवन का एक क्षण-द्वय था। उसको लेकर उगने न ज्ञान विज्ञाने अद्विगम स्वप्न देखे थे। आज के सब गाबार हीन जा रहे थे। जिन कामना की सृष्टि

“ममय की चिन्ता नहीं—भारमुक्ति का-गा अनुभव करके सोमदत्त ने नम्बी गीम लीची, लो उसके आत्म मनोप की सूचक थी। फिर पूर्ववत् प्रगल्भ आत्मोप स्वर में बोला—“अधिक से अधिक जितना भी ममय लगे, मैं सह्य हूँगा। ज्ञानमा का जीवन यदि मेरे द्वारा नतिक भी मणी हो सकता है, तो उसके लिए मैं दो वर्ष तो क्या, दस वर्ष तक शिक्षा दे सकता हूँ। और जैसा कि तुमने कहा है, मैं गर नहीं हूँगा। मुझे न हम पद का लोभ है न मैं अपने को उसके योग्य मानता हूँ। तटस्थ भाव में तुम्हारा मित्र होने के लिये, यथामुभव सेवा-सहाय्य करने को प्रस्तुत हूँ।”

तो फिर क्या मे ?”

सोमदत्त ने शीघ्र मूँट की और नजनी-मण्डला के पर्वोपर कोई गणना करने लगा। छोटी देर बाद उसने कहा — परमो गम्हार का प्रभाव बहुत ही श्रेष्ठ होगा है। उसी दिन में आऊँगा। वह रामने दाने वादम्ह वक्ष का चवनरा ही पाटशाला बनेगा। एक तो वाटिका के भीतर गकान्न स्थान है, फिर प्राकृतिक वातावरण भी मनोहर है। मगीन के लिए ऐसा ही स्थल उपयुक्त होता है। परमो आकर बीजा वादन में ही मुभारम्भ करेगा। भगवान शिव की कृपा हुई तो, कुछ ही दिनों में ज्ञानमा देव-ध्यापी कीति अजित कर लेगी। इसकी प्रतिभा पर मुझे विश्वास है।

परम मन्तुष्ट होकर वामना ने हाथ जोड़ दिये। उसके मुख पर विजय सूचक तृप्ति का आह्लाद चमक रहा था।

सोमदत्त बँटा मोच रहा था—कवचिन गानवती मनी।

वामना ने एक मेदक की ब्लाकर आदेश दिया—“शिव-दाम, आप (सोमदत्त) मेरे अतिथि हैं। अभी कई महीने रहेंगे। मेरा का भार तुम पर है। किसी प्रकार तृप्ति न होने पावे। पूरी





से चाट रही थी ।

संगीत प्रतिक्षण आरम्भ हुआ, तो मोमदत्त लालमा की प्रतिभा पर चकित रह गया । उसकी मेघागवित्त धद्भुत थी । मोमदत्त को कोई भी दान एक बार से अधिक बताने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । लालमा पूर्वं ज्ञान की भाँति वह सब कण्ठस्थ कर लेती थी । गायन-वादन के जटिलतम सूत्रों को भी लालमा ने इनकी सरलता से सीख लिया जैसे बर बच्चों का कोई मनोरंजन हो ।

मोमदत्त भी उन्मादित हुआ । प्रतिभाशाली छात्र को पढ़ाने से छायापत्र को गति स्वभावन होती है । फिर लालमा में तो और भी कई विशेषताएँ थी — वह मोमदत्त की प्रियमी की पुरी थी । रूपवती और बला-कृशाल थी । जीवन की सीमा में प्रवेश करने पर उसके मन-मन का महज स्वाभाविक आवरण बरबस छाकूट करने की क्षमता रखता था । जब मोमदत्त का चित्त उस पर बंदो में केंद्रित हुआ । वह भी ना माम मरजा निर्मित एक लौकिक शक्ति था । मन की मन्तव्य मात्र मात्रा में परे कैसे जा सकती थी । मोमदत्त भी मनस्थ था और मनस्थ में महज मरपन्न सागरिक । वह फलर का भयवान नहीं था जो कतिपय पुरुषों की पथ से भी उपसृजित रहता । वह साधारण-गण हीरक की मला का जीदन्त समान था । लालमा व प्रथम उक्त मन में कनाकाम ही एक प्रकार की धार्मिकता एक प्रकार का साधन बनने ही गया । वह दलचित्त होकर उसे निरुता दन बना ।

लालमा का दमिन्धक जित लक्ष्मी में बना था । उनमें विस्मृति नाम का दोष कदा कप ह भी नहीं था । मोमदत्त ने जितन भी स्वर, वाद्य उपकरण लक्ष्मी लाल और लीन कर्णिक में भद्र-प्रभेद बनाए लालमा ने महज ही सब सीख लिया । नृप की कनक मोहर मुद्राओं का उसने ऐसा अध्ययन कर लिया था कि साधारण







“हाँ, मरत्य यही है।”

“यह मरत्य नहीं है।”

“फिर क्या है ?” स्वार्थ की छाँवों में उत्तेजना की लपटें उठ
भाई—

“बताऊँ ?” विवेक ने व्यस्य-भरी सुम्बान से प्रश्न किया।

स्वार्थ चिढ़ गया। मूर्ख बनाकर बोला— “हाँ, हाँ बनाओ न।”

“यह मरत्य नहीं है, पदुयन्त्र है।”

“क्या बहा ?” स्वार्थ उड़न हो उठा।

‘मैं बहना हूँ—यह स्वार्थ नहीं है पदुयन्त्र है, पाखण्ड है।
विरयामघान है। मुझे तेमा नहीं करना चाहिए।’

‘मूर्खें जो करना चाहिए वह मैं तुमसे अधिक जानता हूँ। मूर्खें
ज्ञान मन मिलाओ।

कम से कम कामना के नाम लो मोचो।

“उसी के नाम मोच रहा हूँ भाई। वह न होनी तो यह कुछ
न होता।’

‘घरछा।’ उसी के कारण तेमा मान रहा है।’

‘हाँ, हम सारी घणानि का जिसे लुप्त घनैतिकता बना रहे
हो, एकमात्र कारण यही है। उसका बिना प्रतिशाप सिद्ध मैं तक
गत भी घणानि से मान सकूँगा।

उसे लो लुप्त प्रेम करना है। फिर भी प्रतिशाप की
भावना ?’

‘बैसा प्रेम ?’ वह सब सिध्या है। सर मन में कामना के
प्रति प्रेम का एक भी घणानि नहीं रह गया। घण भी कुछ है,
वह घणानि। विरचित कोर प्रतिशाप का दुसरा रूप है।

‘क्यों ?’

‘उसमें रूप है, दास है। उसके व्यवहार में कपट है। स्वयं



आत्म-दमन को, ऐसी कुण्डा को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। मेरा लक्ष्य और मिद्धान्त पहले से भिन्न रूप ले चुका है। अब मैं जीवन के उपभोग का समर्थक हूँ, पलायन का नहीं।”

“कैसा उपभोग करोगे ?”

“हाम-विलास और आनन्दमय जीवन व्यतीत करूँगा।”

“लेकिन तुम तो त्यागी हो ! सर्वस्व त्याग चूके हो ?”

“इसमें क्या होना है ? त्यागी से छाड़ी बन जाऊँगा। अब कुछ फिर से ग्रहण कर लूँगा। इसमें किसी की कृपा नहीं लेनी है। दो शत्रुओं प्राप्ति करूँगा इस जीवन में स्वयं-भूत का जागना।”

“कौन-सी दो शत्रुओं ?”

‘बचन और बर्तमनी। बचन में बर्तमनी भी गुप्त हो जाती है। गुना नहीं सर्वगुणा बाननमाश्रयन्ति। निर्दिचल हाथर जीवन का आनन्द प्राप्त करूँगा यही मेरी नीतिकला है यही मेरा मयम ।’

विवेक सचिन हृद्या हलना दुःखान्तरण तुम म बीन नगणन ही गया :

‘पार्श्वदर्शिका न कर दिया।’

‘ता अब तुम म बामना की बामना नहीं है।’

‘नहीं अब त्यागना का त्यागना है।’

‘बरा टग गुरी कर गवाण ।’

‘अवश्य तुम दगा नना बामना कीर त्यागना की बरी टा-
पी बरीभूत करक हूँगा मेरा आत्मबल आज ... है धातु है
पुन बाला मबीधी कीमदल लती हूँ। अणन अणनः सुगुण
पीन बयो लव गार पुन की भूल शानक मगमानन कर्न गता व
अनर बामना पाकर अब निने भी कुल धातुबक अणन कर है न है
द हूँ नर्भिका कीरे शत्रुण बदा है ? अंदर ही हलना हृदय कीन ।’



आत्म-नन्दन को, ऐसी कुण्ठा को कभी स्वीकार नहीं कर सकता। मेरा सद्य और सिद्धान्त पहले से भिन्न रूप ले चुका है। सब मैं जीवन के उपभोग का समर्पक हूँ, पलायन का नहीं।”

“कैसा उपभोग करोगे ?”

“हास-विनास और आनन्दमय जीवन व्यतीत करूँगा।”

“लेकिन तुम तो त्यागी हो ! सर्वस्व त्याग नुके हो ?”

“इसमें क्या होना है ? त्यागी से पाही बन जाऊँगा। सब कुछ फिर से पहल बन नूँगा। इसमें किसी की वृथा नहीं लेनी है। दो वस्तुएं प्राप्त करूँगा वस जीवन में स्वर्ग-सुख प्राप्त जायगा।”

“कौन-सी दो वस्तुएं ?”

“कचन और कामिनी। कचन में कामिनी भी मूलभ हो जाती है। मुना नहीं- सर्वगुणा कचनमाथर्या-न। निदिचन्न हाकर जीवन का आनन्द प्राप्त करूँगा, यही मेरी नैतिकता है, यही मेरा मयम।”

विवेक चरित हृष्या । एतदा दुस्माहय तुम म बरं उत्पन्न हो गया ?

“परिस्थितियो न कर दिया।

“तो, सब तुम म कामना की कामना नहीं है

“नहीं, सब आत्मता की आत्मता है।

“क्या उसे पूरी कर सवाग ?”

“सबसे तुम देव जना कामना छोड़ गानगा की उरी हाजा की बलीभुन करके रहूँगा। मग आत्मवदन नाग उरा है। आत्र मे पहले वाला संकोची सोमदल नहीं हूँ। अयात्र अन्तर्गत सगकर, पात्र हयो तत्र शारे देव की अत्र आनकर गाम्मानन सगीपता के मय्य गाम्मात पाकर अत्र गीत भी कुछ अनुभव प्राप्त कर ईगा है। के एतु सर्वविद्या मेरे सामुल क्या है ? यदि मैं इनका हृदय जीवन न

उसने अपने को परम निर्विकार बनाकर वैसे ही उल्लास भरे स्वर में उत्तर दिया—“इसी की तो प्रतीक्षा कर रहा हूँ।”

“तो फिर बनो न !”

उत्तर में सोमदत्त उठकर कामना के पास आ गया और षोड़ा गम्भीर होकर बहने लगा—“देखो कामना, मुझसे भौपचारिकता न किया करो। मैं तुम्हारा सेवक हूँ—भाजाकारी दास ! मुझे आज्ञा दिया करो।”

“घन्य है ! घन्य है !—कामना ने मोली विखेरते हुए कहा “यदि ऐसे भाजाकारी और बतंत्य निष्ठ अनुचर सप्ताह की दशमास स्त्रियों के पास भी हो जायें, तो नारी जाति स्वर्ग तक में अपना शासन स्थापित कर सकती है।”

सोमदत्त, कुछ समय पूर्व के अन्नहृन्द से अभी पूर्णतया मुक्त नहीं हुआ था। भ्रमवश उसे कामना का परिहास अपने प्रति व्यग्य प्रतीत हुआ। मन ही मन निलमिना उठा। प्रतिकार की भावना और तीव्र हो गई। फिर भी उसने अपने को मँभासा और मयम के स्वर में बोला—“न कभी समस्त नारी-जाति स्वर्ग में शासन स्थापित कर मकी, तुम्हारे लिए तो वह महज मुलभ है।”

“कैसे ?” हम प्रश्ना से कामना चकित हुई।

“देवता और गधवं भी तुम्हारी मादक दृष्टि के वशीभूत हैं। अप्पराये तुम्हारे रूप पर मुग्ध हैं। विमानियाँ तुम्हारे नृत्य-गान से ईर्ष्या रखती हैं। तब स्वर्ग का अधिभार प्राप्त करना तुम्हारे लिए बटिन बड़ी रहा ? कोई भी बाधा तो नहीं है ! तुम्हारा अकृति-विलास ही वहाँ का दासक होगा। किसी प्रकार की चिन्ता प्रयत्न भय में घटने की आवश्यकता नहीं है।”

“यह कविता वहाँ से लाये आचार्यजी ? आज तक तो तुम्हारे मस्तिष्क में यह बीटाणु नहीं रहा, अब कैसे उत्पन्न हो

यही तो सेवक का धर्म है ।

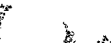
इस घातमधिकार से, इस प्रतारणा से सोमदत्त क्षुब्ध हो उठा । किसी भीषण संकल्प से, किसी दृढ़ निश्चय से उसकी मुट्ठियाँ बँध गईं । भ्रुकुटियाँ वक्र हो उठीं और मस्तक पर विद्रोह सूचक रेखाएँ उभर आईं । भविष्य की चिन्ता नगण्य हो गई और परिणाम का चिन्तन कायरता का ध्वंग्यपूर्ण भट्टहास जैसा प्रतीत होने लगा । एक दीर्घ निःस्वाम लेकर उसने निर्णय लिया—लालसा से अपने लालसा व्यक्त करके, किसी भी उपाय द्वारा उसे अपने उपभोग की वस्तु बनाऊँगा ।

कामना अब तक चार पग आगे जा चुकी थी, किन्तु सोमदत्त का निःस्वाम उसने गुन लिया । घूमकर देखा, तो सोमदत्त की मुद्रा उसे अस्वाभाविक रूप में गम्भीर प्रतीत हुई । समझ गई कि आज इसका मन किसी कारण बोझिल हो रहा है । उमी त्वग्नि गति से लौटकर वह पाम आ गई और पूछने लगी—“क्या आज अप्रसन्न हो ? यदि चित्त विवन्न है, तो रहने दो, मैं नहीं जाऊँगी । तुम विश्राम करो ।”

सोमदत्त संभल गया । जैसे वायु का भोका तिनके को उड़ा ले जाता है उसी प्रकार अन्नबेदना का प्रसंग टालने हुए उसने एक-बारगी हँसकर कहा—“इतने में ही अधीर हो गई ? मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था कि देखूँ तुममें किजना साहस है ? चलो आगे-आगे अभी लौटना किसा ? आज तो नीका-बिहार करना है ।”

“अच्छा ! तो तुम भी परीक्षा लेना जानते हो ? मैंने नहीं समझा था कि तुम इतने मायावी हो ! चलो देर बहुत हो गई । मुर्यास्त का समय निकट आ रहा है । ऐसा न हो कि लौटने में रात हो जाय !” कहकर कामना नदी की ओर चल पड़ी ।

सोमदत्त भी उसके दरावर चलता रहा ।



हसी बना दिया था। अब वह निरन्तर किसी न किसी पद्यन्त्र की रूपरेखा सोचा करता था। यद्यपि दिनचर्या वही थी। लालसा को संगीत शिक्षा देने का कार्य नियमित रूप से चल रहा था; पर उममें अब वह तल्लीनता, वह सदादायता नहीं रह गई थी। एक प्रकार की प्रोचरारिवता जैसी निभाई जा रही थी, जो मानसिक विरक्ति की सूचक होनी है।

उम दिन सोमदत्त और लालसा दोनों बदम्बकुंज में बैठे एक ध्रुपद की व्याख्या कर रहे थे। थोड़ी देर बाद सोमदत्त ने स्वरोँ का मूदग से साम्य करने के लिए प्रलाप लिया—

“दीनन दुग हरन ना-न-य, वज के वसइया...।”

लेकिन दूसरा चरण गाते ही वह चौक पड़ा। वस्तुतः वह एकाग्र मन नहीं था। मुँह से ध्रुपद की व्याख्या कर रहा था, वित्तु नेत्रों और मस्तिष्क से लालसा के रूप लाक्षण्य की। इसी घस-गुनन के कारण वह ध्रुपद के साथ भ्रपताल का चरण जोड़ बैठा। जैसे ही उमके विगम दोष का अनुभव हुआ, सोमदत्त की धारें वाज से भूक गईं। खर जैसे वृ टिन हो गया। शिष्या को सिगाने समय तेसी भूल। ध्रुपद में भय का मयोग। अपनी मनोदशा पर, अपनी धरति पर शोमबज, वह शिथिल हो गया। न मूदग पर धार दे सका, न ध्रुपद के आगे-पवगेह की संभाल सका। उमे गृभ ही न पटा कि क्या करे। दण-भर को मूढ़ जैना बैठा रह गया।

प्राणना स्वभावतः चंचल थी। जीवन का वायु रपसों उमे और भी वाषान बिग रहता था। इन दिनों वह रीझा-बीभूक और हास-विलास में अधिब रधि लेते लगी थी। जान पड़ता था उगकी लुणा हनी उपकरणों के बीच अपना अधीष्ट वाज रही है। सोमदत्त की धरति पर वह हंस पड़ी—“घरे,



की रेखायें उभर आईं । बोली—“तो, क्या आपने सद्यः किया है कि शिक्षण के समय मेरा ध्यान कहीं अन्यत्र रहता है ?”

“एक नहीं,—मोमदत्त ने दृढ़ मधुर स्वर में कहा—“अनेक बार । मैंने कई अवसरों पर देखा कि मैं तुम्हें संगीत मिला रहा हूँ और तुम आकाश में उड़ते हुए पक्षियों की, अथवा डाल पर बैठे कपोतों के जोड़े को देखने में तल्लीन हो । उस क्षण तुम्हारी मुद्रा से प्रकट होता था कि कोई अभाव, कोई सृष्ट्या तुम्हें आकुल कर रही है । मैं कहता हूँ—तुम इन दिनों अपनी किसी इच्छा का बलात् दमन कर रही हो ।”

“धरे !” लालसा ने चीखकर उगरी और देवते हुए स्वयं में कहा—तो यह संगीतज्ञ क्या मनोविज्ञान का भी पण्डित है ? नहीं तो इसे मेरी हृदयगत भावनाओं का आभास कैसे मिला ? निश्चय ही मेरी कोई दुर्बलता इसके समक्ष प्रकट हो गई है ।

प्रकट में बोली—‘क्षमा करें सत्य यह है कि निरन्तर के एकाकी जीवन से कभी-कभी आकुल हो उठती हूँ । उस समय मन में यही कल्पना उठती है कि यदि मैं भी पक्षी होती, तो इसी प्रकार स्वच्छन्द भाव से आकाश में विचरण किया करती । आप स्वयं देखें कि कितना स्वतन्त्र और निश्चिन्त जीवन है इन पक्षियों का ।”

“तो, तुम गगनचारिणी बनना चाहती हो ?” सोमदत्त के अधरो पर अन्तस् की वातना, मुस्कान के रूप में भलक उठी ।

लालसा उसके उपालम्भ पर मुकन रूप से खिलखिला उठी । उसकी इस गिल-खिल से दोनों के हृदय गिल गए । अवसाद मिट गया । नेत्र एक-दूसरे की घोर सरस भाव से स्थिर हो गए ।

“यदि तुम पक्षियों की भाँति परम स्वतन्त्र भाव में घरती-आकाश में विचरण करना चाहती हो, तो मैं बचन देता हूँ कि निश्चय भविष्य में तुम्हें ऐसी सुविधायें अवश्य प्राप्त कराऊँगा,

सोमदत्त का रोम-रोम तुम्हारा है। उसका मन-प्राण सदैव ही तुम्हारी सेवा के लिए प्रस्तुत है।”

किन्तु लालसा ने उसका यह मौन संदेश, यह प्रणय-निर्देश मुना-समझा प्रथया नहीं, कौन जाने ?

उम दिन का प्रशिक्षण औपचारिकता मात्र बनकर रह गया। न सोमदत्त तनमय होकर सिखा सका, न लालसा मनोयोगपूर्वक सीख सकी। दोनों एक दूसरे के प्रति अनेक प्रकार की धारणायें बनाने रहे; जिनका केन्द्र-बिन्दु था—क्या मेरे मन का भाव प्रकट हो गया ?

लालसा तर्क-जाल में डलभी हुई थी।

“क्या, उन्होंने मेरे ऊपर ध्यग्य किया है ? पर स्वयं भी तो उसी रोग से ग्रस्त दीख पड़ते हैं। माताजी के ऐसे आशाकारी दास जब से धीर क्यों हुए ? सदैव विक्षिप्त जैसे दीख पड़ते हैं। कभी-कभी तो ऐसी अस्वाभाविक चेष्टायें करने लगते हैं कि विक्षिप्त रूप से उद्भ्रान्त कहे जा सकते हैं। संगीत प्रशिक्षण में भी संतुलन नहीं रख पाते। धारोह-अधरोह धीर लप-ताल में व्यतित्रम आ जाता है ? किसी त्रुटि की ओर ध्यान धाकूट करती हूँ, तो जैसे स्वप्न मग्न हो जाने से चौक उठते हैं। अधस्य ही इनके मन में कोई वेदना, कोई अभाव है, जो इन्हें इस प्रकार अस्त-व्यस्त किए रहता है। तो जब यह स्वयं अधकार में पथ-विस्मृत है, तो मेरा मार्ग-प्रदर्शन कैसे करेंगे ?

‘टीक’ एसी प्रकार के अनुमान, लालसा के प्रति सोमदत्त के मन में उठ रहे थे—

“इम पुत्री का भविष्य, अस्तिर अनिश्चित और लक्ष्यहीन है। उस दीन-अंधोच धीर संस्कृति का इसमें सर्वथा अभाव है, जिनके आधार पर नारी जाति बन्धु और पूज्य है। निरचय ही

सोमदेव ने एक निस्वाम लिया घोर हाथ भटककर खड़ा हो गया। निस्वय की दृढ़ता ने स्नायुमण्डल को भ्रमभोर दिया। क्षण-भर के लिए दृश्य की घोर स्थिर दृष्टि से देखकर उसने अपनी मोहना को एक क्षण फिर मन ही मन सोचा, घोर तब परमघादवस्तु भाव में एक घोर खल पड़ा।

द्वार के समीप पहुँचकर लगने देगा—मेवक भैरव का रहा है।
 टलका लगने पड़ा—'भैरव'।"

"हाँ, स्वामी।"

"गद प्रदग्ध हो चुका है न?"

"जैसा आपने कहा था, लगभग सब हो चुका है।"

"लगभग? लगभग का अर्थ अनिश्चित भी तो होता है। क्या अभी कोई कार्य बाँध है?"

"हाँ स्वामी, क्या की व्यवस्था अभी नहीं हुई। जो क्या आया था, उसके आस-बासी परीक्षा करने पर परिणाम सकारणक निकला था। अतः लगभग दिन मोटा दिया है। दुर्गा का दो-तीन दिनों में का आगमन होगा। वहीं का प्रतिनिधि कह रहा था।"

"संभव है, वह भी अत्युत्तम घोर सकारणक हो।"

"हाँ, भाव विपत्तय न करें। सब देना नहीं होगा। सागरी से देने कह दिया कि वह हम लोग विशेष ध्यान देकर क्या का प्रदग्ध



मुग्ध बहू देना । इतने संकोच और उलझाव का क्या प्रयोजन ?

उमने सहज शांत भाव से कहा—“मुझे अपनी सेवा से विलग न करे दही मेरी याचन है । आपकी सेवा मेरे लिए ऐसा साधन है जिसके द्वारा मैं संसार की समृद्धि का सुख पा सकता हूँ प्रभु ! मुझे इमसे बंचित न कीजिए ।”

“निश्चिन्त रहो—सेवक के आचरण पर उमकी सविनय समीक्षा पर और निरलस सेवा-भाव पर सोमदत्त ने सहज प्रगल्भता से कहा—“यह तो तुम्हें पहले से ही प्राप्त है । तुम बाल्य-काल से मेरी सेवा करने लगे थे । तुमसे मैं इतना प्रसन्न हूँ कि पृथक् करने की कल्पना भी नहीं कर पाता । भैरव विश्वास रखो, मेवक होकर भी तुम मेरे स्वजन की भूमि हो !”

बुलाएँ हो गया स्वामी !—भैरव ध्यानन्द विह्वल होकर सोमदत्त के पैरों पर लेट गया—“आपकी छाया में रहने हूँ । मुझे अतिथि जग और वायु भी नहीं छू सकेंगे । आपसे विलग हो कर मैं एक क्षण की भी गृहीत न रह सकूँगा । ऐसा उदारमना और आभासीय स्वामी सहज-मृगम नहीं होता । चाहता हूँ कि एक क्षण की भी भूमि आपकी सेवा करता हूँ, और दही में मेरा जीवन समाप्त हो जाय ।”

‘आह ! तेरी वरण बाधा कदी बहू रहे हो भैरव !—सोमदत्त ने कंधे पर कंधे उगे उठा लिया और बहूत लगा—“इसकी आशंका नहीं की जाती । अब तब मैं जीवित हूँ तुम्हें किसी प्रकार का आभाव धरन नहीं कर सकेंगा यदि देवान् मया जीवन किसी दिन समाप्त हो जाय तो भी मेरी और से तुम्हारे लिए मेरी कल्याण रहेगी, जिसके आधार पर तुम आजीवन सुख-समृद्धि का उपभोग कर सकोगे ।”

विनाय, उसके विचार, रहन-सहन और मुख कांत सर्वमे धन्तर
 गया था। एक प्रकार का प्रच्छन्न विद्रोह, प्रतिगोष की अदम्य
 च्छा, मनस्तुष्टि के लिए कुछ भी कर डालने का उन्माद और
 अपने रूप-गुण का गर्व उसमे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता था। शांतिवादी
 और संकोचशील होने के स्थान पर अब वह कठोर और साहसी हो
 गया था। उसकी इन दृढ़ता और मनोबल का आभास उसके शब्दों
 में भी मिल पाता था। अब उसकी वाली बैसी दीन और याचना
 सूचक नहीं थी। उसमे आत्म-बल और पौरुष की गर्जना सहज
 लक्षित हो जाती थी। किन्तु यह सब होकर भी वह असतुलित नहीं
 था। अपने बाह्य-चार को यथाशक्ति नियंत्रित रखता था। अतः
 ज्ञानमा और कामना को उसके आन्तरिक भावों का पता नहीं चल
 सका। वे उसके प्रति वैसी ही आश्चर्यचकित और निश्चिन्त थी।
 उन्होंने स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं की कि आज का मोमदत्त वह
 दिनान्तर है, जिसमे टकराकर दृढ़तम वस्तु भी भिन्न-भिन्न हो
 सकती है।

मोमदत्त अब भी उसी मौलथी के पत्ने को देखन हुए मोच
 रहा था—

घाब घनेक मध्रान्त नागरिक मेरा आदर करने है। उनका
 स्नेह मेरे लिए मूलभ है। बितने ही वरिष्ठ राज्य कामंकारी भी मेरे
 ऊपर कृपा करने है। थोड़ा-बहुत धन अजित कर खा हूं। वस मे
 वस, पढ़ने का आधा संभव फिर मे पास में था गया है। किन्तु यह
 अमानि, यह शोभ विजना विषलित करना रहता है। कामना ने
 मुझे सर्व ममभा !

तो ? क्यों न उसी का हस्तगत कर तुं छोड़तव पूरा ? नहीं है
 मुझारी वह पनि-अमृति? लेकिन मुजल ही अल्पमंन न एक विट् पमदी
 पृथा के साथ उसे भक्तभोग— “उहं। अब उमसे क्या है ?” वह

6
7
8
9

10

11



"क्या कहा ?—क्रुद्ध सपिणी की भक्ति फुंकारकर कामना ने उसकी घोर देखा—"सोमदत्त ? मैं कहती हूँ—भावधान ! शब्दों पर समय रक्षकर कुछ कहा करो । यह क्यों मूने जा रहे हो कि मैं बड़ी कामना हूँ, जिसके पद-रज से तुम अपना जीवन सार्विक कर सजने की माधना प्राप्त में भी रत हो । मैं नहीं समझ पाई थी कि तुम इतने कृतघ्न और दुष्ट हो ।"

'क्या ? मैं क्या हूँ एक बार फिर तो कहो ।'

दुष्ट, कृतघ्न सम्पट, पाण्ड्य, प्रसन्न ! क्या-क्या कहें तुमको ? तुम मनुष्य के रूप में राक्षस हो राक्षस ! मैंने अब समझा । चलो—कामना चण्डी की भक्ति खरी हो गई और आदेश भरे स्वर में कहने लगी— लौटाओ नोका ! मैं अब आगे नहीं आऊँगी मृग रे भैरव ! मुझे दे पनवार और वह सोमदत्त के हाथ से हाँड लेन के लिए उसके पाम बड गई ।

सोमदत्त विषमिन्न हो उठा । क्रोध ने उसे उन्मत्त कर दिया था । वह यह भी नहीं सोच पाया कि मैं क्या करने जा रहा हूँ । जैसे बपोन पर मचान टूटता है, ठीक उसी प्रकार वह कामना की घोर झपटा और बिद्युत्-गति से उसका पमनीय कलेवर अघर में टोंग लिया । क्रोध और हिंसा ने उसे इतना विवर्ण और पाश-विव रूप दे दिया था कि कामना सिंह उठी । किन्तु सोमदत्त ने फिर कोई सकल्प-विकल्प, नकं-विनकं नहीं किया । धैर्य ही सिंह-गर्जन के स्वर में कहना रहा— 'पार्षीयसी ! त्वे, रूप के गर्व और श्रेष्ठ की प्रतारणा का फल भोग ।' और दूसरे क्षण अपनी पूरी शक्ति से उसने जीवित सोमदत्त-प्रतिभा को धारा में फेंक दिया ।

नोका अब भी धारा के साथ बहती जा रही थी । इस काण्ड को देखकर वह क्षणिक के लिए हगमगाई, फिर सतुलित होकर पूर्व-वत् बहने लगी ।



घरने बुर्य और उसकी सफलता पर वह मन ही मन प्रसन्न हो उठा। घाने की योजना ने उसे उत्साहित कर दिया था। भैरव से बोला—“भैरव ! नौका तट पर बाँध कर सालसा के पास जाओ और जैसे भी सम्भव हो, उसे बाटिका के द्वार तक ले जाओ। मैं वहीं मिनूंगा। साथ में घपना रहन कोय और कोई सस्त्र भी लेते जाना। यदि मैं न मिनूँ, तो घोड़ी देर प्रतीक्षा कर लेना।”

भैरव ने डीढ़ बनाने हुए कहा—“जैसी आज्ञा। किन्तु आपके लिए कोई आशंका तो नहीं है? यदि किसी संकट की सम्भावना हो तो पहले हममें रक्षा का उपाय करें।”

“ओ परेगा, महन करूँगा। तुम सीधे सालसा के पास जाओ और बिना हम घटना की खर्चा किए, कोई कल्पित भावश्यकता बताकर उसे बाटिका-द्वार पर घाने की प्रेरणा दो। घाने, मैं संभल नूँगा।”

“आप निश्चिन्त रहे. स्वामी। मैं बड़ी सरलता से उसे ले आऊँगा।”

“नया यह बही है न ?”

“हां, प्रभु। मौलधी के सीधे लडा है। छोटे सबल और बेगवान है। आप प्रसन्न मन से उसका उपभोग करें।”

“आप, किन्तु ध्यान रहे—सालसा को खबेनी ही जाना। कोई लगी-झाड़ी न रहना चाहिए। कोई दासी आदि आए तो उसे लौटा देना। दुगरे की उपस्थिति से मेरे कार्य-क्रम में बाधा आ सकती है।”

भैरव ने नौका घुसाई और बिनारे लगाकर उतर पडा। बोला—“आप बही खलं, मैं उसे लेकर आऊँगा।”

श्रीमदल कुछ बोला नहीं। अचानक बाटिका को छोड़ चुप पडा। भैरव ने लगी निवामी और नौका को लूटे से बाधकर





इन्द्रप्रस्थ की सीमा पार करके जब सोमदत्त राजस्थान के मार्ग पर पहुँचा, तब उसका मन कुछ घाववन्त हुआ। मन्तोष घोर घाति की माँस लेकर उसने रथ गोक दिया और भैरव से बोला—“भैरव ! अब हम लोणी का मार्ग निरापद है, यहाँ से धीरे-धीरे चलेंगे उतर पहाँ घोर घोड़ी देर विश्राम कर लो। यह देखो, पास में कुमाँ है घोर बरगद की छाया भी। दोपहर इल जाने पर घामे चलेंगे। तब तक भोजन की व्यवस्था करेंगे।”

“जैसी आपकी आज्ञा। कहकर भैरव उतर पडा। सोमदत्त भी उतरा। भैरव ने तीनो घोड़े एक डाल से घटका दिये, घोर उनके चारा-पानी तथा घपने भोजन की व्यवस्था में जुट गया।

सोमदत्त ने लाममा की गठनी निकाली और उसे खोलकर बाहर ले आया। यद्यपि उसके मुँह में अब कपडा नहीं भरा था, और इन्द्रप्रस्थ में भोजन कर लेने के कारण वह अधिक मलीन भी नहीं हुई थी; फिर भी हम अप्रत्याशित घटना-क्रम ने उसे इतनी घबराई और मुमुँस कर दिया था कि वह इन्द्रप्रभ जैसी हो रही थी। मुख की घाति क्षीण हो गई थी और रोती रहने के कारण आँखों में लानी तथा मूजन आ गई थी। सोमदत्त ने हम आचरण ने उसे इतनी दुःख और विमूढ कर दिया था कि वह मुक्ति के लिए चिल्ला भी नहीं सकती थी। और यदि चिल्लानी भी, तो व्यर्थ।

भैरव उतर पड़ा था। उसने पूछा— स्वामी मेरे लिए क्या
भाग्या है ?”

“उम पर बैठ लो”—याम सड़े घोड़े को घोर संकेत करके
सोमदत्त ने उसे कहा—“घोर मेरे साथ चलो।”

भैरव ने घोड़ा खोल लिया और उछलकर उमकी पीठ पर
सवार हो गया। सोमदत्त का रथ उतर की ओर अग्रसर हो गया
था। भैरव भी उमका अनुसरण करता रहा। क्षण-भर में कामना
का वह राज-भवन, घोर नन्दन कानन जैसी बाटिका दोनों सुने हो
गए।

सोमदत्त रथ-संचालन में कुशल था। वायु वेग से घोड़े को
उड़ाता हुआ, अपने अनिदिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ता रहा। सारी
रात चलकर प्रभात के समय वह इन्द्रप्रस्थ पहुँचा। भैरव छाया
की भाँति उसके साथ था। भोजन, विश्राम के पश्चात् उन्होंने नये
घोड़े लिए और सिंधु प्रदेश की ओर बढ़ चले। उनकी योजना
थी—अपने स्थान से कहीं दूर जाकर, हम छद्म नाम से नया
जीवन प्रारंभ करेंगे।

इन्द्रप्रस्थ की सीमा पार करने, जब सोमदत्त राजस्थान के मार्ग पर पहुँचा: तब उमका मन कुछ घ्राश्वन्त हुआ। सन्तोष और आति की माँग लेकर उमने रथ गोक दिया और भैरव से बोला—“भैरव! अब हम लोगों का मार्ग निरापद है, यहां से धीरे-धीरे चलेंगे उतर पड़ो और थोड़ी देर विश्राम कर लो। यह देखो, पास में कुर्मा है और बरगद की छाया भी। दोपहर ढल जाने पर प्रागे चलेंगे। नब तक भोजन की व्यवस्था करो।”

“जैसी आपकी आज्ञा।” कहकर भैरव उतर पड़ा। सोमदत्त भी उतरा। भैरव ने तीनो घांटे, एक डाल से घटका दिये, और उनके चारा-पानी तथा अपने भोजन की व्यवस्था में जुट गया।

सोमदत्त ने लावमा की गटनी निवाली और उसे खोलकर बाहर से प्राया। यद्यपि उमके मुँह में अब कपडा नहीं भरा था, इन्द्रप्रस्थ में भोजन कर लेने के कारण वह अधिक मलीन भी हो गई थी, फिर भी हम अग्रन्यासिन घटना-क्रम ने उमे इतनी और मूर्ख बना दिया था कि वह स्वप्न जैसी हो रही थी। जाति क्षीण हो गई थी और रोगी रहने के कारण घालों की तथा मूत्रन का गई थी। सोमदत्त के इस आचरण ने उमे दुःख और विमूढ़ कर दिया था कि वह मुक्ति के लिए भी नहीं बनती थी। और यदि चित्तलाती भी, तो व्यर्थ।

सोमदत्त का नियन्त्रण इतना कठोर और सजग था कि उससे बच निकलना सर्वथा असंभव प्रतीत हो रहा था। यदि रथ पर से कूद डूती, पीछे-पीछे यमराज का प्रतिनिधि भैरव चौकसी करता हुआ चल रहा था। वह धनुष-बाण और भाले से सुसज्जित था। यह घातकमयी व्यवस्था देखकर लालसा निराश हो गई थी। वह चुपचाप रथ के कारागार में गठरी बनी बैठी रही और सोमदत्त निर्विघ्न गति से आगे बढ़ता रहा।

बरगद के नीचे छाया और ठंडक थी। वायु का प्राणप्रद स्पर्श पाते ही लालसा के शरीर में स्फूर्ति का संचार हो आया। उसने एक बार इधर-उधर देखा; फिर सोमदत्त से बोली—“भापने मुझे यह किस अपराध का दण्ड दिया है ?

“लालसा ! मुझे अपने कृत्य पर स्वयं परचात्ताप हो रहा है। किन्तु क्या करता, विवश था; इसके अतिरिक्त मेरे सामने कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था। जानता हूँ कि तुम्हें बहुत कष्ट हुआ है, किन्तु इसे कम करने की न तो मुझमें सामर्थ्य थी, और न इच्छा।”

सिग्ग गम्भीर स्वर में लालसा ने कहा—“मुझे आपसे ऐसी आशा नहीं थी। मां से वंचित करके मेरा अपहरण करने का प्रेरणा आपको किसने दी ? आप तो ऐसे व्यक्ति नहीं थे !”

“प्रेरणा देने वाले को न पूछो लालसा ! उसका नाम मुनकर कष्ट होगा। वह तुम्हारा परम आत्मीय व्यक्ति है।”

मेरा आत्मीय है ! कौन है वह ?” लालसा चौंक

। मां।”

भय घादचयं और विषाद भी भ्रंभा से अस्त-व्यस्त सा...
सोमदत्त का आशय समझ नहीं सकी। उसने पूछा—“यह।
कैसे कह रहे हैं ?”

“तुम्हारी माँ ने मुझसे कहा था—‘तुम इसके गुरु न हो
सकोगे। केवल मेरे नाने, सगीत विद्या में इसका पथ-प्रदर्शन कर
दो; बस’ तुम्हारी विधिवत् दीक्षा के लिए उन्होंने मयपुरा के
मानन्द स्वामी का नाम लिया था। अस्तु; मैं सर्वथा शीघ्रता के
अनुयायी हूँ और इसीलिए तुमसे स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि अपने
निश्चय पर दृढ़ रहूँगा। साथ ही तुम्हें यह भी विश्वास दिसाना
है कि मुझसे प्रणय करके तुम्हें किसी प्रकार का अभाव पीड़ित
नहीं कर सकेगा। समार का वैभव और गुण तुम्हारे प्राणें कष्ट
मटा रहेगा। हाँ, एक बात और कहूँगा—मेरे साथ बचपन प्रपञ्च
विरहित का परिणाम तुम्हारे लिए भयंकर हो सकता है।”

“मुझे सोचने का अवसर दीजिए—‘हाय जोइकर दीर्घ
निश्चय के साथ मालगा ने कहा—‘इस परवृत्ता में मेरा लिए
आत्म-निर्णय नहीं होगा, यह आप स्वयं मोच सकते हैं।’
सोमदत्त ठठाकर हँस पड़ा।

मालगा को उमरी हँसी अस्वाभाविक प्रतीत हुई, अंगे बोई
पिनाच हँस रहा हो। वह भय-वातावरण होकर उमरी और देगने
सगी।

हँसी करने पर सोमदत्त ने कहा—‘आत्म-निर्णय हो या न
हो, मैं निश्चल हूँ। आत्म-निर्णय का माध्य सम्भव भी तो नहीं
है। तब तो तुम मेरी सही। यही पर्याप्त है। मन की स्थिरता तो
मनार में प्रसिद्ध है, उम पर विश्वास करने करो। अपने को पीड़ित
करें? मालगा! तुम जानती नहीं—कहो-कहो सोमदत्त का स्वयं
‘दर, घात’ हो उठा—आत्म-निर्णय की शरीरिजा है...

तो मैं राह का भिखारी हो गया। वह पाप, वह छल भव अपने साथ नहीं करूँगा।”

उमकी मुद्रा और स्वर में सहसा यह परिवर्तन देखकर लालमा चकित हो उठी। भय का स्थान जिज्ञासा ने ले लिया और शोक का रूप सहानुभूति का क्लेशकर धारण करने लगा। सोमदत्त के प्रति उमकी जानकारी बहुत कम थी। उसे केवल इतना ही ज्ञात था कि यह मेरी माँ का भसफत प्रणयी और घाजाकारी दाम है, बन। इधर, कुछ दिनों से उसमें हो रहे परिवर्तन को देखकर वह चकित थी। किन्तु कभी किसी से कुछ कहा नहीं था। कहती भी, तो क्या और क्यों ?

बम्बून, सोमदत्त में आषाढ मस्तक परिवर्तन हो गया था। जो पहले मिनभायी, दैन्य पीडित और कुष्णप्रसन्न था, वही अब स्वस्थ, वाचाल सम्पन्न और आशावादी हो गया था। रूप लावण्य में पहले भी कम न था और अब तो और भी आकर्षक हो गया था। आत्म-विद्वाम की ज्योति से प्रदीप्त उसके तेजस्वी नेत्र दूर से ही बना देने के कि यह व्यक्ति दृढनिश्चयी और पुरुषार्थी है। अब वह पहले वाला चकन्ति का श्रेष्ठपुत्र और नतुंकी का दास सोमदत्त नहीं, उमर भारत का विख्यात सगीताचार्य सोमदत्त नादशास्त्री था जिसके मुख पर अधीनता की छाप नहीं, बरन् अधिकारों की चानि थी। आत्म-बल के प्रभाव से, वह पैंतीस वर्ष का हो जाने पर भी बीस-बाईस वर्ष का स्वस्थ-मुन्दर युवक प्रतीत होता था। विदोषण, जब से कामना के प्रति उसके मन में विराम और विद्रोह उत्पन्न हुआ, वह बहुत सजेक दिखाई पड़ने लगा था।

मन में उठ रहे चलदंष्ट से क्षण-भर के लिए बनान् मुक्ति लेकर आसना के नापित्व ने सोमदत्त की घोर देखा और उसकी दिवेचना करने लगा—पूरुष ही तो है; फिर मेरा पूर्वपरिचित भी।

मान-प्रतिष्ठा के साथ सम्पत्ति भी इसे गुनम है। जब किमो का प्राथम्य लेना ही है तो इसी को क्यों न स्वीकार कर लूँ? किता पुरुष के जब नारी का जीवन एकांकी और अपूर्ण रहता है, तो क्या मैं एकांकी और अपूर्ण जीवन में सुखी रह सकूँगी? नहीं कभी नहीं। किसी न किसी समय मुझे अपने लिए एक साथी खोजना ही पड़ेगा। तब? क्यों न इसी को वरण कर लूँ?

अपरिचित व्यक्ति के प्रति तो एक संका भी हों सकती है— न जाने वह कैसा हो? और इसे तो कुछ निकट से देख भी चुकी हूँ! इस समय इसके वश में हूँ, विरोध करके कोई लाभ नहीं उठा सकूँगी। अभी इसकी बात स्वीकार कर लूँ, फिर देखा जाएगा।

प्रकट में उसने कहा—“आपके अधीन हूँ। विरोध करने का सामर्थ्य नहीं है। बलात् भी आप मेरा उपभोग कर सकते हैं। न जाने किन परिस्थितियों ने आपको इतना कठोर बना दिया है कि उनकी प्रतिक्रिया स्वरूप, आपसे मुझे ऐसा मुकल्पित व्यवहार मिला। अस्तु; नारी के लिए पुरुष का सम्बल आवश्यक है। मुझे भी अपने लिए कोई न कोई संबल खोजना पड़ता। तब आप ही को पना आघार बनाती हूँ। जैसा उचित समझें, आप मेरे साथ वहार करें। और वाक्यान्त में परास्त भाव से उस शून्य की ओर देखने लगी, जहाँ सर्वस्व गँवाए हुए व्यक्तियों की दृष्टि बरबग केन्द्रित हो जाती है।

“निश्चिन्त और निर्भय मन से मेरे साथ रहो। अब कोई अभाव, कोई असंतोष तुम्हारी छाया भी न छू सकेगा।”

“किन्तु मेरी माँ? क्या अब उन्हें कभी नहीं देख सकूँगी?”

“हाँ, उनके तुम्हारे बीच अब इतनी दूरी आ गई है कि भेट नहीं। उनकी भाशा छोड़ो। तुम्हारे लिए मैं और , वम।”

“इतने बठोर हो गए। घाय ! क्या मेरी माँ मदा के लिए छूट गई ? हाय ! माँ ! ओ माँ ! आह !” इसके आगे जानमा कुछ न कह सकी। कण्ठावरोध ने विवश कर दिया और वह मुँह ढीबकर रोने लगी।

सोमदत्त थोड़ी देर चुपचाप बैठा रहा। बदाचिन् घपने नृत्य और लालसा की मनोदशा का विवशपण कर रहा था। जानमा की मिमकारियों ने उसके मानव को छू लिया। यथा मभव स्थर को मधुर बनाकर बोला—“संवेदन करो लालसा ! मैं भी मनुष्य ही हूँ, पशु नहीं। तुम्हारी वेदना की समझता हूँ पर क्या करना, विवश था। अधीर न होकर वर्तमान का वर्णन करो और मेरे माय अपने भविष्य को सयुक्त करके जीवन-मय पर आगे बढ़ो। जैसा कि पहले कह चुका हूँ—परिस्थितियाँ ही विश्व की निर्मात्री हैं। उचित, अनुचित और पाप-पुण्य की परिभाषाएँ स्वयं परिचरित-शील हैं। मैं प्रत्यक्ष का गमयक हूँ। अतीत का स्मरण प्रमादियों का मनोरञ्जन है और भविष्य की चिन्ता कापरो की भीरता। मैं पुन-मार्थी उसी को मानता हूँ जो वर्तमान को अपने अनुकूल बना ले।”

जानमा ने फिर एक निश्वास लिया। यह उसकी कर्माग्नि और पराजय का सूचक था। निराश बाणी में बोली—“चेष्टा कहेंगे कि आसको सतुष्ट कर सकूँ। किन्तु इस समय मैं बहूँ दुःखी हूँ। मेरा व्यवहार आपको प्रमन्न नहीं कर सकेगा। चाहे जन्म-जान मस्कार बहिष्ण चाहे मरी मानसिक दुर्बलता; मैं घपनी माँ व लिए व्याकुल हो रही हूँ। उसे भी घाय माय लेने आने, तो मुझे कोई दुःख न होना।” माँ का प्रमग आने ही वह गम्भीर हो गई। मोह का मस्कार उसे स्पष्ट करने लगा और आँसु में ही मानी हुनक पड़े।

शामना को जल समाधि दे देने के पश्चात् सोमदत्त की प्रति-

शोष-भावना शीघ्र हो चुकी थी। सामगा के प्रति किए गए ध्वंस-हार का मूस कारण तो उसकी काम-कृष्ण और दमिन् कामना थी। त्रिग सामगा के लिए वह महीनों तक आतुर-भ्रमण कर रही बिना जागरण करणा रहा, वहीं आतुर उसे आत्म-गमर्पण कर रही थी। अशु-विन्दुओं ने उसे विषलित कर दिया। धैर्य और गाम्भीर्य का कृत्रिम व्यनन उसे रोक न सका। आतुरतापूर्वक उठा और भाषावंग में, पुष्प-प्रतिभा की भाँति सामगा की कमनीय काया धक में समेट ली।

सामगा ने कोई विरोध नहीं किया। मूर्खित् निश्चेष्ट बैठी रही। उसकी चेतना का केवल एक प्रमाण था—स्वासगति।

सोमदत्त ने उसे आहु-व्यनन में समेटकर हृदय से लगा लिया और थोड़ी देर तक उसकी आँसों में उतरकर न जाने क्या खोजता रहा। फिर, उसे गोद में लिए हुए एकबारगी सड़ा हो गया और अविरोध गति से चित्तनी ही प्रणय मुद्रायें उसके मुख पर अंकित कर दीं।

राजा भगीरथ को गंगा प्राप्ति से जो हर्ष हुआ था, उससे भी कई गुना अधिक सोमदत्त को प्राप्त हुआ। वर्षों से रिक्त सका भ्रतृप्त हृदय क्षण-भर में ही सरोवर की भाँति पूर्ण हो गया और अक्षय का कुहासा चीरकर उसमें भाँति-भाँति के कल्पना-ल विकसित होने लगे।

पाँच वर्षों व्यतीत हो गए। इतना समय कम नहीं होता। मस ध्वधि में सोमदत्त की जीवनधारा दूसरी ओर मुड़ गई थी। भद्र उसका रूप सर्वथा परिवर्तित दिखाई दे रहा था। त्यागी-मन्यासी ध्वधा निरान-विरक्त न होकर आज वह एक सम्पन्न और प्रतिष्ठित गृहस्थ था। समीत-साधना ही उसकी जीविका थी; किन्तु ऐसी नहीं कि उसे कही भोली फँलानी पड़े। अपितु वह सदा बुलाया जाता था। बड़े-बड़े राजा महाराजा उसे उत्सव-पर्वों पर आमन्त्रित करते थे, जहाँ से लौटते समय पुरस्वार और पारिश्रमिक की प्रचुर धन राशि उसके साथ होती थी।

लालसा भी भद्र पूर्ण युवती हो चुकी थी। उसका रूप-मोदयं मुद्गर प्रदेशों तक धर्चा का विषय बन गया था। सोमदत्त की पत्नी के रूप में उसे और भी ख्याति मिली थी। दोनों जहाँ भी जाने, साथ-साथ। सोमदत्त वादन बला में निपुण था और लालसा नृत्य तथा गायन में। रूपरेखा से दोनों आकर्षक तथा प्रियदर्शी थे। सोमदत्त का व्यक्तित्व जितना प्रभावशाली था, लालसा का उतना ही अविस्मरणीय। उसका एक-एक अंग जैसे विलास और मोन्दयं के उपादानों में ही निर्मित हुआ था। गौर वर्ण, चम्पा-गुप्प जैसी छाभा, चार चबल मेख, रघुरथ दीर्घ भुजायें, उन्नत उरोध्र, पुष्ट अघन प्रदेश, मांसल निरम्ब और उन पर सह्रानी

सोमदत्त ने अपना एक निश्चित स्तर बना रखा था। उसी के अनुसार सारी व्यवस्था करता था। कामना की हत्या के बाद लालसा को लेकर कुछ दिनों तक सिन्धु प्रदेश में रहा; फिर वहाँ से कर्नाटक राज्य पहुँचा। इस बीच दो वर्ष का समय बीत चुका था और वे दोनों परस्पर तादात्म्य हो गए थे। यद्यपि लालसा के मन में अनजाने, अनचाहे कोई अभाव कसक उठता था; पर क्षणिक थोड़ी देर बाद वह फिर सोमदत्त के तन्मय हो जाती थी।

सोमदत्त के पास कुछ पूर्व सम्पत्ति थी। कुछ और अर्जित कर चुकने पर वह अपनी गृहस्थी सँवारने में लगा। भँरव तो था ही, पाँच सेवक और दो दासियाँ नई रख ली। सात वादक नियुक्त किए, जो उसके साथ, समारोह में जाते थे। चार रथ थे और दैनिक उपयोग की वस्तुओं का विशाल भंडार। लालसा के लिए वस्त्राभूषण

लग। इतनी साज-सज्जा और दल-बल के साथ, वह जहाँ पहुँचता लाग अभिभूति रह जाते थे। रूप-गुण के साथ उसका वैभव लोगों में सहज आदर और शालीनता की भावना उत्पन्न कर देता था। जब रंगमंच पर लालसा का संगीतमय नृत्य होता, उस छटा को देखकर लोग आत्मविमुग्ध हो जाते थे। वह, शक्ति वह श्री, वह अनोरम दृश्य महीनों किसी को भूलते नहीं थे। इसके पुरस्कार

वरूप लालसा को जो धनराशि प्राप्त होती थी, वह सोमदत्त के रथ को दिनोदिन अभिवृद्ध करती जा रही थी। दर्शकों में कितने तो यहाँ तक कहने लगते थे—“सोमदत्त पूर्व जन्म का कोई साप

गान्धर्व है और लालसा अप्सरा। साधारण मनुष्य में इतनी रूप-श्री, ऐसा समान संयोग कहाँ देला जाता है ?”

सोमदत्त भ्रमणप्रिय और स्वच्छन्द मनोवृत्ति का व्यक्ति था। तब कर्नाटक में रहकर उसने फिर

... भार धातुज चकित रह जाते हैं। अष्टधातु से निर्मित उस प्रतिमा को दृढ़ता, मुन्दरता और भाभा का रहस्य भाज तक कोई नहीं खोज सका। वह इतनी जीवन्त है कि देखकर प्रतीत होता है—जरामरण-जयी भगवान विष्णु साक्षात् सामने खड़े हैं। देतने की इच्छा हो, तो चलो। वैसे भी यहाँ से मन उचट रहा है।”

“चलिए। मूर्ति का दर्शन करने की इच्छा मुझ में जाग उठी है। अवश्य ही उसे किसी प्रतापी नरेश ने बनवाया होगा।”

“निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु अधिकांश लोगों की धारणा है कि उसकी स्थापना उज्जयिनी नरेश महाराज विक्रमादित्य के हाथों हुई थी। चिदम्बरम् के प्राचीन ग्रन्थों में इसके प्रमाण मिलते हैं। किन्तु मूर्ति का निर्माण महाराज के समय का नहीं, उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। महाराज को तो वह नदी में स्नान करते समय मिली थी। तब उन्होंने उसे निकलवाया और मन्दिर बनवाकर विधिवत् स्थापित कर दिया।”

“सम्भव है, वास्तविकता यही हो; कारण कि ऐसी विशाल और अद्भुत मूर्ति की स्थापना विक्रम जैसे किसी असाधारण राजपुरुष के हाथों ही सम्भव हो सकती है।”

“चिदम्बरम्-निवासी बताते हैं कि महाराज प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा के दिन वहाँ जाकर मूर्ति की पूजा करते थे। उज्जयिनी के लिए प्रस्थान करने के पूर्व, जब वे मूर्ति को प्रणाम करने जाते थे, तो वह सहसा कातिगुप्त हो उठती थी। उसका वह अलौकिक प्रकाश पूज महाराज के लिए धरदान-तुल्य होता था। एक वर्ष मूर्ति अलौकिक नहीं हुई थी, वही सम्राट विक्रम की अन्तिम यात्रा ख हुई। उसी वर्ष वे दिवंगत हो गए और चिदम्बरम् की विष्णु के वार्षिक दर्शन का वर्षों पुराना वह क्रम सदा-सर्वदा के लिए

आह्लादमयी शुचिता का प्रसार कर रही थी। जयजयकार, कीर्तन वाद्य-ध्वनि ने और जनरव ने वातावरण को इतना कोलाहल-कम्पित कर दिया था कि अपना स्वर भी दूरागत प्रतीत होता था। लगता था—समस्त विश्व की पवित्रता और उल्लास इसी मन्दिर में केन्द्रित हो गया है। धरती से अन्तरिक्ष तक सर्वत्र आमोद और भक्ति का प्रभाव व्याप्त था।

रात्रि का प्रथम प्रहर समाप्त होते ही संगीत-समारोह प्रारम्भ हुआ। देश भर के विख्यात कलाकार आए हुए थे। सोमदत्त भी समग्रीक सपत्नीक उपस्थित था। अनेक गायक-गायिकाओं ने अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन किया। दर्शक आनन्द विभोर हो उठे। किन्तु सबके अन्त में जब सोमदत्त का निर्देश पाकर लालसा रंगमंच पर आई, तो जैसे अमानिशा में सूर्योदय हो गया। मन्दिर का कण-कण प्राणवान् होकर उसकी प्रशंसा में 'धन्य-धन्य' कहने लगा।

मन्दिर की प्रकाश-व्यवस्था आश्चर्यजनक थी। प्रायुक्तिक यत् उपकरण उस समय किसी की कल्पना में भी नहीं आए थे; पर भी आज के—सभ्यता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए इम तानिक युग के यान्त्रिकों को चमत्कृत करने वाले रासायनिक तैलों के द्वारा उस समारोह के घृत-दीपक, अपने प्रकाश से रंग-रंगीन विभिन्न प्रकार की आभा से ज्योतित कर रहे थे। उन रंगीन अश्रु के पारदर्शी भावरण डालकर, इच्छानुसार आ उत्पन्न किया जा रहा था।

लालसा का नाम उससे पहले ही चिदम्बरम् पहुँच चुका था। कर्नाटक में रहने हुए उमगी ख्याति लगभग मारे दक्षिण भारत में वायुमण्डल की भाँति व्याप्त हो गई थी। जिन्होंने केवल उमगी प्रशंसा मुनी थी, वे मात्र प्रत्यक्ष दर्शन के इच्छुक थे और जिन्होंने

देखत देखा था, वे उनका गायन सुनने को अधीर थे। उन सबकी धातुग्ना देखते एक शब्द में गिमटकर रह गई थी—‘घरे’। जैसे ही, उगने दर्शकों की धीरे-उन्मुख होकर अभिवादन की मुद्रा में झुम्काकर, अथम् ही पनकों में घोवा को मनिष भूकाया, गयने मुंह में निरता—‘घरे’।

तगा—सगार का मीठयं इग रमणीमृति में केन्द्रित होकर मुम्भरा रहा है।

ठीक इसी समय प्रकाशकार ने अपनी कला दिखाई। रगमच का वह भाग जितने में खरी लाकर ननकी अथना प्रदमन करती थी, गिले हुए कमल की आकृति का बना हुआ था - वैसे ही दल वैसे ही बीज कोश, धीरे वैसे जलविन्दु। आलगा ने दो पग बढ़ाय धीरे उसी कमल पुष्प पर जा खड़ी हुई। प्रकाशकार ने उस छटा को धीरे अथिक मोड़क बनाने के लिए दीपक के आवरण बदल दिये। पहले सब कुछ इवेत या सुभ- ठीक चन्द्रिका की भाँति। विन्दु आवरण बदलने ही सारा रगमच नीचे रग का दिखाई पड़ने लगा। वह शोभा, वह थी चिदम्बरम् वामिसो के लिए अधुनपूरण थी। सब कुछ नीला हो गया था। क्षणिक के लिए दर्शक यह भूल गए कि वे कहीं बैठे हैं। रगमच उन्हें सागर-तल में स्थित विष्णु लोक जैसा प्रतीत हुआ, जिसमें आलगा की रूप-छटा पद्मासना लक्ष्मी की भ्रान्ति उत्पन्न कर रही थी।

सोमदत्त ने संकेत किया, जादूको ने अपने-अपने दन्त्र सँभाले धीरे घोणा, मुदग, बशी, भ्राँफ़ धीरे मजीर का समवेद स्वर गुँज रहा। ठीक इसी समय प्रकाशकार ने नीला आवरण हटाया धीरे पहले की सी दुग्ध घबल ज्योत्स्ना में, दर्शको ने देखा—मुन्दरी आलगा आलाप ले रही है—

“सखिल जगत, घा...घा...र...र।”

श्रोता मंत्रमुग्ध हो गए। उनका चित्त ...
 भ्रमभूति शक्ति संगीत की मधुरिका में तन्मय हो चली। अपनी
 धैर्यशक्ति गसा भूतकर प्राणों का स्पन्दन गीत के आरोह-भवरोह
 से धावड हो गया। यंत्र शालित की नाई वे गीत की लय पर भूम
 रहे थे। धापी रात का गमय। दण-दण पर परिवर्तित होने वाली
 गतरंगी। द्युति से शालोक्ति, पद्मासर रंगमंच पर खड़ी लालसा
 का नृत्य सबको आत्म विमुग्ध बनाये हुए था। उसके अप्परा विनिदक
 रूप और किन्नरी-विमोहक स्वर ने जैसे मोहन मंत्र डाल रखा था।
 लगभग एक घड़ी तक वायु को स्तम्भित रखने के बाद जब लालसा
 का विराम मकेत पाकर वाद्ययंत्र मौन हुए, तो जैसे स्वप्न टूट
 गया। जन समूह चकित होकर दधर-उधर देखने लगा। उस स्वर्गीय
 आनन्द की केवल स्मृति रह गई थी, बस। उसके साहम विलुप्त हो
 जाने से, सारे श्रोता, सारे दर्शक इस प्रकार अकुला उठे थे, जैसे
 दुर्घटनावश तीर्थयात्रा में अपनी सर्वस्व गँवाकर कोई व्यक्ति विक्षिप्त
 हो गया हो।

समारोह की समाप्ति पर लौटते हुए जन समूह की चर्चा का
 एकमात्र विषय था—“ऐसा रूप, ऐसी कला कभी देखी सुनी नहीं
 गई।”

उधर, सोमदत्त सोच रहा था—अब भाग्य ने साय दिया है !
 और, लालसा अपने से पूछ रही थी—मेरा भविष्य कैसा है ?
 दूसरे दिन सोमदत्त दोपहर के समय एकान्त में बैठा कुछ सोच
 रहा था। चिन्तन का केन्द्र लालसा का सहवास ही था। रूप और
 शब्द वह स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करना चाहता था। लालसा का
 सम्पर्क प्रसिद्ध-प्रद तो था ; पर उसमें एक उत्तरदायित्व का भार
 बहन करना पड़ता था। यह सोमदत्त की प्रवृत्ति के विपरीत

क्रिया में समय पाकर भ्रकल्पित रूप धारण कर लेती हैं।”

सोमदत्त ने क्षण-भर सोचा—कोन होगा ? फिर भैरव से कहा—“बुला लाओ।”

थोड़ी देर बाद भैरव लौट कर आया तो सोमदत्त ने देखा—उसके साथ एक युवक आया हुआ है। रूपरेखा और व्यक्तित्व से किसी सभ्रान्त परिवार का प्रतीत होता है। वस्त्रादि मूल्यवान् ; और साज-सज्जा आकर्षक-नेत्रों और भ्रघरों से रसिकता-सूचक भावा विकरित हो रही है। शील और विनय की मधुरता से स्वर ही अत्यधिक प्रिय बनाकर वह कह रहा है—“असमय ही आ गया हूँ, इसके लिए क्षमा देकर मेरा विनम्र अभिवादन स्वीकार करें।” यह साहित्यिक भाषा ! ऐसा शिष्टाचार ? सोमदत्त ने आश्चर्य चकित होकर उसकी ओर देखा—“आइए, नमस्कार।”

युवक पास आकर बैठ गया।

दोनों ने एक दूसरे को जिज्ञासामयी दृष्टि से देखा।

सोमदत्त ने प्रश्न किया—“कहिए आपकी क्या सेवा कर सक्ता हूँ ?”

युवक ने पास खड़े भैरव की ओर सम्बोध देखा।

सोमदत्त ने उसके असमजस का अनुमान कर लिया। भैरव की ओर देखकर नेत्रों से संकेत किया—“जाओ।”

भैरव चला गया।

“हाँ, अब आप निस्म कोच भावसे बतायें, कैसे प्रायमन हुआ। किस प्रकार आपके काम आ सरता हूँ ?”

“आप मुझे—युवक एक क्षण के लिए कुछ संतुष्टि हुआ; फिर जैसे भीतर का सारा बल समेट कर बोला—“क्षमा करें। मेरा प्रयोजन यहाँ ही निदनीय और आपके लिए प्रायमान जनक है। किंतु उसे व्यक्त किए बिना मुझे जानि नहीं मिन रही थी; इर्गामिए

भाया हूँ ।”

“इस क्षण को मैं अपने आपके लिए निन्दा-प्रशंसा से परे का समझता हूँ । विश्वास रखें, तनिक भी धनुषित नहीं मानूँगा । आप अपनी बात कहें । उसे स्वीकार कर सकूँ अथवा नहीं, यह दूसरा विषय है, पर आपका कथन मैं शान्ति-महिष्णुता के साथ सुन लूँगा, इसका वचन देता हूँ ।”

“तो, मैं लालसा के सम्बन्ध में भाया हूँ ।”

“स्पष्ट कीजिए ।”

बस रात विष्णु मन्दिर में उसका रूप और नृत्य देखकर मैं न जाने किस अतीत प्रेरणा से बहुत ही व्याकुल हो उठा हूँ । मुझे अपने में एक अज्ञान-मा अभाव, जिसके बिना जीवन निम्मार प्रतीत होता है, निरन्तर खटकना रहता है । मैं यह भी जान गया हूँ कि लालसा आपकी विवाहिता पत्नी नहीं शिष्या अथवा प्रेमिका है । न जाने कौन, मेरी अन्तरात्मा से कह रहा है —“लालसा की अवतारणा तुम्हारा अभाव दूर करने के लिए ही हुई है ? उसके चिदम्बरध-आगमन का यही मूल कारण है । अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप हम दोनों को दाम्पत्य सूत्र में बाँध दें । इससे उत्पन्न आपकी व्यावसायिक हानि के लिए मैं उत्तरदायी रहूँगा और जितनी भी कहेंगे धनराशि देकर उसकी पूति कहूँगा । मैं किसी भी मूल्य पर लालसा को शान्त करने के लिए कृतनिश्चय होकर हूँ, आपसे ऐसा अमूर्त निवेदन कर सका हूँ ।”

युवक की धारमकथा सुनकर सोमदेव ने एक निःस्वार्थ लिया और सोचने लगा — ‘क्या कहें ?’

इस समय उमरे मन में एक अलौकिक उठ खड़ा हुआ था— लालसा से मुक्ति पाने की राह में खोज रहा था । जान पड़ता है ईश्वर मेरी दृष्टि पूति के लिए ही इस युवक को भेजा है । फिर

सोचता—पाँच वर्ष तक उनके रूप यौवन से अपने को तृप्त करता रहा हूँ, क्या अब इस प्रकार परित्याग अबवा विभ्रम करना उचित होगा ?

थोड़ी देर तक उचित-अनुचित अनुरक्त-विरक्ति और लाभ-हानि के ऊहापोह में रहने के बाद उसने निरीक्षण की दृष्टि से युवक की ओर देगा। निरछल प्राप्य, आत्मसमर्पण, एकाकीपन की व्यथा और अग्रस्थ उत्सुकता के भावों से पूर्ण मुक्त मण्डल लिए वह आगन्तुक अपलक दृष्टि से उसकी ओर देख रहा था। सहज मंथम और निनम्र शास्त्रीनता से निर्मित उसके व्यक्तित्व ने सोमदत्त को आश्वस्त कर दिया। मन ही मन निर्णय किया—लालसा को सुखी रखने में यह अपना सर्वस्व अर्पित कर सकता है। बोला—

“आपने सर्वथा अपरिचित होकर भी जिस स्पष्टता से अपनी बात कही है, उससे मैं प्रसन्न चकित हूँ और वचन देता हूँ कि उस पर सहानुभूति से विचार करूँगा। किन्तु आपका प्रस्ताव बहुत ही गम्भीर है। उस पर निर्णय देने के पूर्व भली भाँति सोचना होगा। प्रापसे पूर्व भी ऐसे कई निवेदन मेरे समक्ष प्रस्तुत किये गए थे किन्तु मैंने उन सबको ठुकरा दिया। अस्तु; आपका परिचय मैं अभी तक नहीं पा सका।”

“परिचय तो बहुत नगण्य है—युवक ने हाथ जोड़कर उसी वनम्र स्वर में कहा—“काशी के सर्व श्रेष्ठि स्वर्गीय रत्नचन्द्र ग पौत्र हूँ, पिताजी सिंहल में हैं। घर में रत्नों का परम्परागत व्यवसाय होता है। तक्षशिला का स्नातक हूँ और माता-पिता की एकमात्र सन्तान। अकेले ही सारे व्यवसाय और घर का प्रबन्ध देखता हूँ। परिजनोमें माता जी हैं, तथा कुछ अन्य निकट सम्बन्धी। बस, श्री मेरा परिचय है, यही मेरी कहानी।”

“परिणाम देने वाला कोई अन्य है। कम से कम मैं, उसकी व्यवस्था में अविरवास नहीं करता।”

“क्या लालसा को पाकर आपका जीवन पूर्ण और विकसित हो जाएगा? क्या आपके चरम सुख का एकमात्र साधन यही हो सकती है, बस?”

“निश्चय!—कंचन का स्वर आत्मविश्वास से पूर्ण था—
“पहले ही कह चुका हूँ कि यह मेरी आत्मा का आह्वान है। छन्वीस वर्ष के जीवन में, मैं आज तक कभी किसी स्त्री की ओर आकर्षित नहीं हुआ। इसे देवी प्रेरणा ही कहूँगा कि कल रात्रि प्रथम दर्शन से ही मैंने लालसा को अपने हृदय की आराध्य देवी और जीवन-पथ की संगिनी का पद दे दिया है। अपनी अन्तिम साँस तक मैं इस भावना की रक्षा करूँगा और सचेष्ट रहूँगा कि मेरे द्वारा कभी कोई ऐसा विपरीत आचरण न हो, जो मेरे इस आदर्श पर प्रहार कर सके।”

“आप बड़े भावुक और आदर्शवादी व्यक्ति हैं।।

कंचन चुप रहा।

“संभव है—सोमदत्त फिर बोला—“इसके पूर्व इतने निकट से, और ऐसा आकर्षक, नारी-रूप देखने का अवसर आपको न मिला हो।”

“आपका अनुमान सत्य है; किन्तु भविष्य के लिए तो ऐसा नहीं कहा जा सकता।”

“एक संभावना और है...” सोमदत्त ने दक्षिण दृष्टि में कंचन की ओर देखा।

“बनाएँ!” कंचन ने भ्रम निवारण के लिए अपनी तन्त्र-रत्ना दिखाई।

“आपकी इच्छा पति के पञ्चान् कुछ दिनों में, प्रथवा प्रौढ़-

कि मेरा यह व्यवसाय छूट जाएगा। क्या आपने इससे होने वाली मेरी हानि का अनुमान किया है ?”

“अनुमान ययार्थ से दूर होता है। आप अपनी हानि का सकेत दे मैं प्राणपण से उसकी पूर्ति का प्रयास करूँगा।”

“अच्छा !” सोमदत्त युवक के साहस पर चकित हो उठा।

“हाँ-हाँ; आप निस्संकोच कहें—कंचन को मिथ्याभाषण से घृणा है।” कंचनकुमार की आँखों में आत्मविश्वास झलक उठा।

“तब आप दो सहस्र स्वर्ण मुद्राओं की व्यवस्था कर दें। मैं लालसा के साथ सारा दल बल आपको दहेज रूप में दे दूँगा और स्वयं एक सेवक को साथ लेकर अपने पथ की ओर चल दूँगा।”

कंचनकुमार आनन्दित हो उठा। वह इतना प्रसन्न हुआ, जैसे विश्व की सम्पदा प्राप्त हो गई हो। मुक्त भाव से विह्वलकर बोला—

“निश्चय ही मैं आपकी सेवा करूँगा। कल प्रातः यह धनराशि आपके पास आ जायेगी। और, आप भी अपना वचन पूरा कर देंगे न ?”

“अवश्य !”

“उसी समय ?”

“तुरन्त ! जब तुम मुझे मुद्रायें देने आओगे, लौटने समय लालसा तुम्हारे साथ होगी और जैसा मैंने वचन दिया है, यह सारा वैभव और आडम्बर भी तुम्हें प्राप्त हो जाएगा।”

“क्या इस समय लालसा से भेंट करना सम्भव है ?”

“सम्भव तो है; पर उचित नहीं।”

कंचन प्रश्नमयी दृष्टि से सोमदत्त का मुँह ताकने लगा।

सोमदत्त ने समाधान के लिए कहा—“वह जड़ नहीं, चेतन

गोपकर, सोमदत्त ने दोनों का प्रणाम लीते हुए, जीवन के एक
नये क्षेत्र में प्रवेश किया। साथ में उसका अनन्य सेवक भैरव था,
स। सेवक और स्वामी दोनों किसी अज्ञात लक्ष्य की ओर चले
रहे थे। कंचन प्रसन्न था, लालसा मौन थी और भृत्यवर्ग
कृत-आशक्ति-सा उनकी ओर देख रहा था।



बागी का सुप्रसिद्ध ग्न-भवन —नगर श्रेष्ठि रत्नचन्द्र का निवास-स्थान ।

राजप्रासाद जैसे मध्य उस भवन की गगनचुम्बी घट्टालिका पर केतकी पुष्पो से निर्मित 'कुमुम कुटीर' में बैठी लालसा अपने अनीत और वर्तमान का विद्वलेपण कर रही थी । मन और मानसिक एक दूसरे से तर्क-वितर्क, शका समाधान कर रहे थे । मोमदल के विद्रोह और कचनकुमार की प्राणित दोनो की अनुभूतियाँ कल्पना में साकार सही एक दूसरे को परागत करने का प्रयास कर रही थी ।

एक पक्ष ने प्रश्न किया —“मोमदल गुणी था ।

‘ चिन्तु गुण चाहक नहीं ।’ दूसरे ने उत्तर दिया ।

“कैसे ?”

‘ लालसा में क्या कभी थी ? रूप प्रतिभा सभी तो थे, पर वह स्वार्थी हमका सम्मान न कर सका । पाँच वर्षों तक इन्द्रिय तृप्ति करने अन्ततः पशु की भाँति उसे दूसरे के हाथों बेचकर भाग गया ।’

“लेकिन सुपात्र के हाथों बेचा है । यही लालसा की न वैभव की कमी है, न प्रेम की और न सम्मान की । पात्र वह एक मेह की पत्नी है, करोड़ों की सम्पदा की स्वामिनी है और अपने अनुकूल

एक स्वस्थ सुन्दर युवक को प्रेयसी है। कितना व्यवस्थित संयोग है। कही कोई त्रुटि नहीं, कही कोई व्यतिक्रम नहीं। और इस सब का मूल कारण कौन? सोमदत्त ही तो! क्या ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा नहीं होनी चाहिए! क्या वह कृतज्ञता का पात्र नहीं है!"

दूसरा पक्ष निरुत्तर हो गया। इन तर्कों में बल था।

पहला पक्ष विजय गर्व से ठठाकर हंस पड़ा।

तब दूसरे पक्ष ने क्षुब्ध होकर कंचन की प्रशंसा आरम्भ की—

"कंचन है—तन मन दोनों से। उसकी समता ससत्र संभव नहीं। जितना प्रणयी है उतना भावुक भी। उदारता उसका व्यसन है और रसिकता उसकी जन्म-जात प्रवृत्ति। उदास रहना उमने जाना ही नहीं। सदैव हास-विलास से उत्फुल्ल, जीवन के प्रति आस्थावान् और स्वर्ग को धरती पर लाने का साहस रखने वाला ऐसा जीवन्त व्यक्तित्व कहीं दिखाई पड़ता है विपुल वैभव का एक मात्र अधिकारी कंचनकुमार यदि सुखी, सम्पन्न और मोभाग्यशाली नहीं है तो फिर किसे यह गौरव दिया जा सकता है। कंचन की महिमा शास्त्रों ने भी गाई है—सर्वे 'गुणाकांचनमा धयन्ति।' लालमा को अपने भाग्य की भूरि-भूरि सराहना करनी चाहिए कि उसे कंचन जैसा प्रणयी पति मिला।" इस तर्क के साथ यह इतना होता कि लालमा तटस्थ न रह सकी। वह भी मुक्त ममर्षन के भाव से हँसने लगी।

ठीक इसी समय कंचन धाया। लालमा ने उठकर स्वागत किया मानममंथन न जाने कहीं तिरोहित हो गया था। दोनों परस्पर धातिलग्न बढ हो गए। लालमा का मुँह कमल विकसित हो उठा। कंचन ने उम पर अपने अमाध्य प्रेम की मुद्रा अंकित करने शुरू की—

"लालमा! तुम्हें पाकर मेरा जीवन सार्थक तो हुआ, पर मैं

मंगार के गुण-दुग्ग, हर्ष-विषाद, और राग-विराग से परे, समाधि-
लीन जैसे वं जाने कितने क्षणों तक उगी स्थिति में बैठे रहे।
फिर जब स्वर्ग से धरती पर घाए, तो लालसा ने कहा।

“स्वामी एक विचार मन में उठ रहा है।”

“कहो।” कंचन ने आतुरता पूर्वक पूछा।

“आपका यह भवन सुन्दर तो है, बड़ा भी है, किन्तु कला की
दृष्टिसे रुढ़िवादी विचारों द्वारा निर्मित प्रतीत होता है। आधुनिक
का इसमें अभाव है। आपके अतुल ऐश्वर्य और राजसी मनोवृत्ति
के, यह सर्वथा विपरीत है। यदि उचित समझें, तो अन्यत्र एक
नवीन भवन, चाहें वह छोटा ही हो; किन्तु आधुनिक कला के
अनुरूप और साज-सज्जा से युक्त रहे, बनवा लें। मैं चाहती हूँ—
वह इतना सुन्दर और प्रियदर्शी हो, इतना सुसज्जित और कलापूर्ण
हो, जितना आपका हृदय है।”

कंचन ने लालसा का चिबुक उठाया और दुष्टि संगम करके
उसके अन्तस्तल में उतरता हुआ बोला—“अवश्य। मैं शीघ्र ही
तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर दूँगा।” साथ ही अपने कथन के पुष्टी-
करण स्वरूप उसने प्रणय की एक मुद्रा फिर से मकित कर दी।

लालसा विभोर हो गई।

कंचन ने उठते हुए कहा—“मैं अभी जाता हूँ, और राजकीय
निर्माणविभाग के विशेषज्ञों से मिलकर सारी व्यवस्था करा दूँगा।
प्रभु की इच्छा होगी, तो छः महीने के भीतर ही तुम्हारे मनोनुकूल
भवन बन जाएगा।”

“अरे, ऐसी भी क्या शीघ्रता? मैंने तो सकेतमात्र किया था।
कभी अवकाश के सम निश्चिन्तर मनसे वहाँ जाकर मिल लीजिएगा
मैं उरसुक अवश्य हूँ; किन्तु आतुर अधीर नहीं। अभी से उसमें
... व्यस्त क्यों हो रहे हैं?”

भवन के खपरी भाग में एक छोटा-सा किन्तु अति सुसज्जित कक्ष बना हुआ था। वह लालसा और कंचन का कीड़ागार था। नाम था—'पर्यंक'। अपनी शोभा और सज्जा से वह पूरे भवन का प्राण था। जिस समय नव-दम्पति वहाँ बैठकर मनोरंजन करते, शेष सप्ताह की ओर भूलकर भी उनका ध्यान नहीं जाता था।

उस दिन कंचन को पान का बीड़ा देते हुए लालसा ने कहा—
"आपने मुझे धन, मान और प्रेम सभी कुछ दिया। मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। अपने इस तोभाग पर मुझे गर्व होता था। किन्तु कल संध्या से एक शंका मुझे अघोर कर रही है..."

शंका ! किस बात की ? अरे लालसा ! मेरे रहते भी शंका ? कंचन एक बारगी सजग हो उठा और लालसा का हाथ पकड़कर पूछने लगा—
"तुमने कल संध्या को ही क्यों नहीं बता दिया था। शाह ! तुम अपने मन में संताप लिए बैठी रही और मुझे पता भी न चलने दिया ?"

संकोचयश, कहने का साहस नहीं हुआ, स्वामी। यह आपका पारिवारिक विषय है।"

"पारिवारिक विषय ! तब तो तुम्हें अवश्य कहना चाहिए था ! क्या तुम मेरे परिवार में नहीं हो ?"

मातमा निरन्तर रही।

"बोता ! मैं पूछता हूँ—इतने संकोच की क्या आवश्यकता है ?
... ! वास्तविकता यह है कि कंचन मंगला के आगमन का समाचार मिला है मैं ही रही हूँ। यद्यपि इतने दिन में माताजी के आगमन का समाचार नहीं मिला। वे तब-

भवन के शपरी भाग में एक छोटा-सा किन्तु भनि सुप्रज्जिन करा बना हुआ था। यह सानग घोर कंचन का कीड़ागार था। नाम था—'पर्यंक'। अपनी सोभा घोर गज्जा से यह पूरे भवन का प्राण था। जिग समय नय-दर्शनि यहाँ बैठकर मनोरंजन करते, शेष गंगार की घोर भूमकर भी उनका ध्यान नहीं जाता था।

उम दिन कंचन को पान का बीड़ा देते हुए लानमा ने कहा—
 "आपने मुझे पन, मान और प्रेम सभी कुछ दिया। मेरी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति के लिए सदब प्रस्तुत रहते हैं। अपने इस सौभाग्य पर मुझे गर्व होना था। किन्तु कल संध्या से एक शंका मुझे प्रधीर कर रही है..."

शंका ! किस बात की ? अरे लालसा ! मेरे रहते भी शंका ?
 अंच न एक बारगी सजग हो उठा और लालसा का हाथ पकड़कर छने लगा—
 "तुमने कल संध्या को ही क्यों नहीं बता दिया था।
 गह ! तुम अपने मन में संताप लिए बैठी रही और मुझे पता भी चलने दिया ?"

संकोचवश, कहने का साहस नहीं हुआ, स्वामी। वह आपका रिवारिक विषय है।"

"पारिवारिक विषय ! तब तो तुम्हें अवश्य कहना चाहिए ! क्या तुम मेरे परिवार में नहीं हो ?"

लालसा निरुत्तर रही।

"बोला ! मैं पूछता हूँ—इतने संकोच की क्या आवश्यकता कहीं यह मेरे प्रति अविश्वास का दूसरा रूप तो नहीं है ?"

"ऐसा न कहें प्रियतम ! वास्तविकता यह है कि कल संध्या व से आपके पिताजी के आगमन का समाचार मिला है मैं व्यग्र, भयभीत-सी हो रही हूँ। यद्यपि इतने दिन में माताजी 'र से मुझे कोई बलेशजनक व्यवहार नहीं मिला। वे तप-

आशंकानुमार वे स्पष्ट ही हो जाएँ, तो भी मैं निर्वृन्द हूँ। यह घर तो क्या, यदि तुम्हारी तुलना में सारे संसार को रखा जाए, तो भी मैं उसे हेय समझूँगा। क्या अभी तक तुम मेरी भावनाओं और आत्म निश्चय से परिचित नहीं हो सकीं।” कहकर कंचन भी लालसा की आँखों में उतरने लगा।

अब दोनों एक दशा में एक ही विषय पर केन्द्रित, एकात्म की भाँति तल्लीन थे। नेत्र, अधर और वक्ष परस्पर वार्तालाप में विमुष वातावरण मौन नीरव और निस्तब्ध। मुख पर आत्मसमर्पणजन्य आह्लाद की स्थिति-ज्योति। जिस सलाप में वर्षों का समय अर्पित होता, क्षणों में समाप्त हो गया। कंचन ने मुग्धि-मुद्रा में मद-विह्वल नेत्रों से लालसा को संबोधित किया—“प्रिये ! सचमुच, तुम अप्सराओं से भी अधिक सुन्दर हो। ऐसे भुवन मोहन रूप का कहीं वर्णन नहीं मिलता।”

उत्तर में लालसा के ताम्बूल रंजित अधर विकसित हो उठे—
“जैसी भी हूँ, तुम्हारी ही तो !”

कंचन कुछ कहने ही जा रहा था कि द्वार पर लटक रहा नीला भिलमिल धीरे से लहराया और वायु तरंगित हो उठी—
“छनन्-छनन् छन् !”

यह दासी के स्वरो की ध्वनि थी।

संकेत समझकर कंचन ने आज्ञा दी—“आप्पी !”

घ्रावरण पट सरक गया और मुसग्जित वेद-विन्यास में एक पौडसी ने प्रवेश करके अभिवादन की मुद्रा में कहा—“स्वामी !”

“हाँ, कहो न ! इस असमय में आने का क्या कारण था ?”

कंचन ने प्रश्न किया।

“स्वामी ! मुझे स्वयं मंकोच हो रहा था, पर... !”

“मुनयना !—कंचन ने कुछ चिन्ताग्रस्त होकर पूछा—“अब

राटक उठता था—न जाने पिताजी क्या पूछेंगे ?

प्रणाम के उतार में आशीर्वाद देकर रात्रथेष्ठि ने गम्भीर स्वर में कंचन से कहा—“भवन-निर्माण में की गई घन-राशि का मुझे कोई खेद नहीं है। यह सारी सम्पत्ति, जो मैं अर्जित कर रहा हूँ, मात्र तुम्हारे ही लिए है ! किन्तु कुछ ऐसी सूचना प्राप्त हुई है, जिससे मैं अपनी वंशानुगत प्रतिष्ठा के प्रति शंकित हो उठा हूँ। यदि मेरे सन्देह का निवारण तुम नहीं कर पाते, तो निश्चय ही वह पारिवारिक अशान्ति का कारण बनेगा।”

कंचन ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—“पिताजी आज्ञा दीजिए, मैं प्रत्येक सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ। आपकी मनोशान्ति और शारीरिक सुख के लिए मैं वे सारे प्रयास करूँगा, जो मनुष्य की सामर्थ्य में होंगे।”

कहने को तो कंचन ने कह दिया, किन्तु अपने शब्दों पर वह स्वयं आश्वस्त नहीं हो सका। इस कथन में सत्य और आडम्बर का अनुपात देखकर वह जैसे अपने-आप से ही लज्जित हो गया। वस्तुतः उसका आत्मबल क्षीण हो चल था। पिताजी की ओर देखने का साहस नहीं हुआ। मन का भाव छिपाने के लिए वह अपनी भंगूठी को इधर-उधर सरकाने लगा।

पिता ने कहा—“पुत्रवधू की आवश्यकता मैं स्वयं अनुभव कर रहा था। वह तुम अपनी रुचि से ले आए और सन्तुष्ट हो, यह देख कर प्रसन्नता हुई। किन्तु उसके वंश-कुल आदि का विवरण जानना मेरे लिए आवश्यक है; क्योंकि यह अपना जातीय विषय है। इसकी उपेक्षा का अर्थ होगा—सामाजिक लांछन। और कुछ भी हो; पर मैं अपनी वंश मर्यादा पर अर्च नहीं आने दे सकता। आज देश-विदेशों में घर की प्रतिष्ठा देख रहे हो, उसके मूल में यही एक आधार है।”

साह ! बंसा निर्मम प्रहार है ! न जाने किस दुष्ट ने पिताजी की हृदयवादिता को उकसा दिया है । इनको ग्रन्थ-परम्परा का सम्बन्ध में कैसे कहें ? और यदि सत्य कहता हूँ तो ये लालसा को कभी स्वीकार नहीं करेंगे । धनना भी सहायक नहीं हो सकेगी । तब ?

भक्तद्वन्द्व का वेग इतना बढ़ गया कि कंचन हतप्रभ हो उठा । वह निश्चय नहीं कर पा रहा था कि क्या कहे—सत्य अथवा असत्य ?

उत्ते द्विधाप्रस्त देवकर पिता ने फिर पूछा—“तो, तुम्हारे मौन का यही अर्थ है न; कि वधु प्राप्त करने में तुमने अपनी वंश-मर्यादा का ध्यान नहीं रखा ? इसे कहीं से लाए थे, इसके पारिवारिक जन बर्ही है, उनका व्यवसाय क्या है, यह सारा विवरण बताओ ।”

“पिताजी ! आपकी आज्ञानुसार मैं”—आहस सँजोकर कंचन ने अपने को निरद्वेष बनाते हुए उत्तर दिया—“विदम्बरम् के विष्णु मन्दिर में पत्र-शुद्ध भर्षित करने गया था । वही के एक संभ्रान्त मन्त्रज की यह कन्या है । वार्तालाप के मध्य वे मुझमें इतने प्रभाव हुए कि चलने समय, इने मुझको भर्षित कर दिया । हमारा स्वयं और परिणय सब विष्णु मन्दिर के प्राणल में ही हुआ था ।”

“बधा हम मन्त्रज में तुमने वधु के अभिभावक को कुछ धन दे दिया था ?”

“हाँ, मैंने उन्हें कुछ मुद्राएँ दी थी; विष्णु विष्णुद दान की भावना से । अर्घ्य गबट के कारण वे अपनी किनी पारिवारिक समस्या में बुरी तरह उलझे हुए थे ।” कंचन ने सत्य पर आवरण डाला :

“धने कंचन ! तुम अपने पिता को भी भर्षित करना चाहते हो ?”

“नहीं पिताजी, मैं ऐसा नीच और शूद्र-बुद्धि नहीं हूँ कि आपके

प्रति ऐसी कुकल्पना भी कर मकूँ। मैंने जो कुछ कहा है, उसका एक-एक शब्द सत्य है। आप किसी प्रकार का सन्देह न करें।”

“हा-हा-हा-हा !”—पिता का स्वर अस्वानाविक्रम से बढ़ो-था—“कितने चातुर्य से तुम अपना दोष छिपा रहे हो ! कंचन, मैं कहता हूँ—बुद्धिमत्ता का दंभ छोड़ दो। तुम्हारा नैतिक पतन हो चुका है। और जानते हो—जिसका नैतिक पतन हो जाता है, उसके मन-मस्तिष्क में तनिक भी शक्ति नहीं रह जाती। तुम्हारा कृत्य मैं भली-भाँति जान गया हूँ।”

“कृत्य ? आप यह क्या कह रहे हैं पिताजी !”
 “मैं कह रहा हूँ—सिंहल से लौटते समय मैं चिदम्बरम् में ठहरा था। तुम्हारे पतन की कहानी घर-घर में प्रसिद्ध है। मुझे पुष्ट प्रमाण मिले हैं। कि तुमने सोमदत्ता नामक किसी गायक की पत्नी,—वह भी कदाचित् विवाहिता नहीं, अपहृता है—को दो सहस्र स्वर्ण मुद्राओं में क्रय किया है। आज जिसे तुम अपनी पत्नी के रूप में साथ रखकर गर्व कर रहे हो, वह वस्तुतः किसी नर्तकी की सन्तान है। और नर्तकी की सन्तान का जारज होना कदा संभावित है तब, ऐसे पात्र को लाकर तुमने मेरी वंश-प्रतिष्ठा पर क्या प्रभाव डाला है, सोचो !”

कंचन मलिन हो गया। उसकी मुख कांति इस प्रकार नष्ट हो गई जैसे दिवस का दीपक हो। भय और चिन्ता के कारण मुद्रा विकृत हो गई। मुँह सूखने लगा। चिह्ना तालु प्रदेश से चिपक गई। क्षण-भर के लिए वह मूढवत् खड़ा रह गया। पिता के कथन का प्रतिवाद करने के लिए उसे शब्द ही नहीं मिल सके। अपराधी भाव से वह मौन खड़ा घरती की ओर अपलक दृष्टि से देखता रहा।

पिता ने फिर कहा—“मेरी शंका का समाधान करने के लिए मेरे कथन की अमंगलता का विरोध करने के लिए, बोलो, तुम क्या

बहना चाहते हो ? अपने पक्ष में तुम्हारे पास कोई तर्क हो, तो प्रस्तुत करो ।”

कचन जितना सहज विश्वासी था, उतना ही सहसा प्रवर्ती भी । लालसा के आगे उसे सारा ससार तुच्छ दीख पड़ रहा था । पिता के स्वभाव से परिचित था । समझ गया कि अब पारिवारिक व्यवस्था में कोई दुर्घटना होकर ही रहेगी । कण्ठस्वर को सायास स्पष्ट और सशक्त करके उसने कहा—“पिताजी ! आपका विरोध करने का पाप मैं नहीं लूँगा । जो भी कहेंगे सब स्वीकार करूँगा । सचमुच, लालसा नर्तकी पुत्री जारज मतान और गायक पत्नी है, और मैंने उसे त्रय किया है । किन्तु अब वह मेरी सहर्षाभिगी है । हम दोनों वैदिक रीति से पति-पत्नी हो चुके हैं । जीवन-भर अपने-दम सम्बन्ध का निर्वाह करने को दृढ़ प्रतिज्ञा है ।”

पिता ने अनुभव किया—कचन का स्वर उड़न हो उठा है, और व्यवहार में असहम-जनित अनादर का भाव भलेक आया है । उसने क्षुब्ध होकर कहा—“मेरी मान मर्यादा और पारिवारिक नैतिकता के लिए तुम्हें इस मोड़ का त्याग करना पड़ेगा ।”

कचन का स्वर कुछ अधिक कठोर हो गया—“पिताजी ! इतनी दूर तक चलकर मैं अब लौट नहीं सकता । लालसा मेरी पत्नी है । उसका परिग्रहण करना मेरे लिए सम्भव नहीं रहा ।”

“बूढ़ अपनी मान मर्यादा का भी ध्यान भी है न ?”

“राब है, किन्तु मैं लालसा को बिना भी मृत्यु पर त्याग नहीं सकता ।” कचन ने पूरी दृढ़ता के साथ अपनी भाव प्रकट कर दिया ।

“अच्छा ! ऐसा दृढ़ निश्चय ? मैं बहना हूँ—फिर मे सोच लो ।”

“बार-बार क्या सोचना पिताजी ! मैं विवश हूँ अपनी भावु-बता से, सहृदयता से और प्रतिज्ञा से ।”

“और पायरता से भी !”

“कायर ! पिताजी ! मुझे कायर न कहिए ।” कंचन ने स्वयं
विद्रोह किया ।

“क्यों ?” भय पिता की भी आँसों का आयतन बढ़ा ।

“लाजसा के लिए समस्त संसार की उपेक्षा करके भी क्या मैं
कायर हूँ ?”

“अवश्य ! तुम एक नर्तकी के रूप से परास्त हो गए । तुम्हारी
आत्मा का इतना दयनीय पतन हुआ कि लोग मुनना भी नहीं
चाहेंगे । तुमने स्येच्छा के बशीभूत होकर पुरजन-परिजन अथवा
गुरुजन किसी का भी सम्मान नहीं किया । क्यों ? इसीलिए न, कि
उनकी आज्ञा, उनका उपदेश स्वीकार करने के लिए तुम्हारे पास
आत्मबल नहीं था । तुम्हें कायर न कहूँ तो क्या कहूँ ?”

“यह मेरी निष्ठा और प्रणय की गम्भीरता का चोटक है
पिताजी ।”

“क्यों रे असम्य ! तू मुझे निष्ठा का पाठ पढ़ाने चला है ?
जिसको तू निष्ठा कहता है, मैं कहता हूँ—वह तेरी कामुकता वा,
तेरी पलायनवादी मनोवृत्ति का सूचक है । गभीरता का दंभ करते
हुए भी, तू सम्मता और शिष्टाचार का, प्रतिष्ठा और परम्परा का
निर्वाह नहीं कर सका । तेरे साहस को, तेरी दृढ़ता को धिक्कार
है ।”

“पिताजी ! आप व्यर्थ ही क्रुद्ध हो रहे हैं—उत्तेजित स्वर को
कुछ नम्र करके कंचन बोला—“मैं सर्वथा निर्दोष हूँ ।”

“नहीं, तू सर्वथा सदोष है । तेरा अपराध अक्षम्य है । तुम्हें
दंडित किये बिना, मैं धन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगा ।” इस बार
राजश्रेष्ठ का स्वर ओघावेग के कारण कांप रहा था । उसकी दृष्टि
स्वाभाविकी हो उठी थी और श्वासेरुध्र इस प्रकार गड़ गया था.

“आप दण्ड-अवस्था दें; मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा। विश्वाम कीजिए पिताजी, मैं न आपको धवसाद ग्रस्त करूँगा, न स्वयं को। लालसा को साथ रखकर, मैं बड़े से बड़ा दंड लेने को प्रस्तुत हूँ।”

“यह निर्लज्जता ! ऐसा दुस्ताहम ! जा, इसी क्षण अपनी उस नर्तकी प्रेयसी को लेकर काशी राज्य की सीमा के बाहर चला जा। तेरे जैसे चरित्र भ्रष्ट, पतित और कुलागार से अनाम्ति के प्रतिरिक्त और क्या मिलेगा ? तुझ जैसे नीच प्रवृत्ति का पिता कहलाना मुझे सह्य नहीं है। तूने पीड़ियों से चली घा रही श्रेष्ठिवश की कीर्ति को कालिमालिप्त कर दिया है। निकल जा इसी समय ! अपने अपवित्र अस्तित्व से इस भवन का वातावरण दूषित न कर। मैं समझ लूँगा, तूने जन्म ही नहीं लिया था। कुमनान में निम्नन्तान रहना ध्येयस्वर है।”

“जैसी आपकी आज्ञा !” — कचन ने हाथ जोड़कर कहा—“मैं रुद्धिवादी नहीं हूँ। मेरे लिए समस्त मानव जाति एक है। वर्ण-अवस्था हमारी आपको शोषक प्रवृत्ति और दोहन नीति का सजीव उदाहरण है। मैं प्रसन्नता से इसका परित्याग करता हूँ।” कहते हुए कचन ने पिता की चरण रज ली और बाण बेग से निकल गया।

शोक और शोक से अभिभूत-ता बँटा राजश्रेष्ठि अपलक दृष्टि से द्वार की ओर देखता रहा।

कचन ने उसी समय ‘पर्यंक’ पहुँचकर लालसा को तारा विवरण बतला दिया। उसने कोई विरोध नहीं किया। कचन की आज्ञानुसार गृहत्याग करने के लिए प्रस्तुत हो गई। राजश्रेष्ठि की उपस्थिति न जाने क्यों उसे कचन जैसी प्रतीत हो रही थी। निष्प्रगमन उसे श्रिय लगा; क्योंकि यह स्वछन्दता का संदेश था। साथ में

उसने अपनी प्रसाधन पेटिका और वीणा ली, बस । कंचन ने कुछ रत्न और मुद्रायें, जो उसकी स्वमाजित सम्पत्ति थी, लीं और देहली को प्रणाम करके सहर्षं बाहर सड़ः हो गया ।

जिसने गुना, चकित रह गया । किन्तु वह भादर्श प्रणयी, बिना किसी प्रकार का संकल्प-विकल्प किये, पिता का इन्द्रासन त्याग-कर सहर्षं मन से वन की ओर प्रस्थित हो गया । साथ में कुछ नहीं । न दास-दासी, न वाहन । आगे-आगे कंचन और पीछे-पीछे लालसा, पाँव-पयादे अपने अनिश्चित गतन्व्य की ओर चल पड़े ।

उस दिन सारे नगर की चर्चा का विषय रहा—कंचन का निर्वासन ।



काशी से प्रस्थान करने समय कचन के सामने अपना कोई निश्चिन्त लक्ष्य प्रकट मतव्य नहीं था। वह लालसा को साथ लिए हुए घर से निकल कर उपनिदिष्ट पथ की ओर चल पड़ा था। किन्तु नैमित्तिकरण पहुँचकर उसका विचार बदल गया और वह सोचने लगा—इस प्रकार भटकना तो उचित नहीं है। मुझे कहीं स्थायी रूप से रहकर जीवन को स्वावलम्बी और सम्पन्न बनाना होगा। यह यात्रावर वृत्ति न तो शारीरिक सुख दे सकती है, न मानसिक शान्ति।

उसी संध्या को उसने लालसा से कहा—“लालसा ! कहीं स्थायी रूप से रहने का विचार है, या इसी प्रकार भ्रमण करोगी ?”

“जैसी आपकी इच्छा होगी।”

“किन्तु यह क्यों भूली जा रही हो कि मैं तुम्हारी इच्छाओं का दास हूँ।”

लालसा का मन सर्वाश तो नहीं, किन्तु सोमदत्त की अपेक्षा कचन के प्रति अधिक अनुरक्त था। कारण कि कचन रूप, वय, धन और स्वभाव सब में सोमदत्त से सम्पन्न था। अभाव था, तो एक—कचन को सगीत में रचि होने हुए भी दक्षता प्राप्त नहीं थी। फिर भी, लालसा का प्रेम उसके प्रति था और जितने धागे उसके पास बैठती, परम सन्तुष्ट रहती थी। कचन का उत्तर

सुनकर उसने एक तृप्तिमयी मुस्कान से कहा—“मेरी इच्छाओं के केन्द्र भी तो आप ही है !”

“तो बताओ, भविष्य के लिए क्या विचार है ?” कंचन मूल प्रश्न पर आया। वह चाहता था, भावी जीवन की एक रूपरेखा निश्चित कर लूँ और उसी के अनुसार अपनी दैनिक चर्या बनाऊँ।

स्थापित्व का महत्त्व लालसा को भी ज्ञात था। उसने कहा—“किसी एक स्थान पर निवास करने से जीवन संतुलित रहता है। इस प्रकार इधर-उधर भटकने से कभी-कभी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है।”

मैंने भी यही सोचा है। इसीलिए तुमसे पूछ रहा हूँ। जहाँ कहो, चलकर रहने की व्यवस्था करूँ। अभी अपने पास पर्याप्त धन है। भारत के किसी भी नगर में अपना निजी भवन और उद्यान बनवाने की क्षमता रखता हूँ। तुम अपनी रुचि बताओ, वहीं चलूँगा।”

लालसा ने कुछ कहना चाहा; पर न जाने क्यों कह नहीं सकी, केवल मुस्कराकर रह गई।

उसके संकोच और कुछ कहने की इच्छा का आभास कंचन को मिल गया। उसने लालसा की दाहिनी तर्जनी पकड़ ली और हथेली पर गुदगुदाते हुए बोला—“बुप क्यों हो गई? पूरी बात कहो न? क्या अब भी हम तुम एक नहीं हो सके?”

लालसा ने डाँठ के मुँह पर हाथ रख दिया—“ऐसा न कहें स्वामी! आपने मेरे लिए जितना बड़ा त्याग किया है, वह सात जन्मों तक नहीं भुलाया जा सकता।”

“तो फिर बताओ, कहाँ अपनी कुटी बनाने का विचार है?”

“काश्मीर, बलिए।”

“काश्मीर?”

“हाँ, वह परती का स्वर्ण है और मेरा स्वर्ण-स्वप्न। दो बार हो चाई हूँ—एक बार माताजी के साथ बचपन में, दुबारा आचार्यजी के साथ।”

“गया तो मैं भी हूँ और सचमुच, है बड़ा रमणीक प्रदेश। वातावरण इतना मोहक है कि वहाँ से लौटने की इच्छा नहीं होती।”

“काश्मीर को भारत भूमि का मुकुट माना जाता है।”

“यह यथार्थ भी है।”

“सौन्दर्य-श्री वहाँ प्रकृति के कण-कण में व्याप्त है।”

“निवासी भी बड़े सुन्दर और प्रियदर्शी होते हैं।”

“महाराज दशरथ की रानी कैकेयी का जन्म वहीं हुआ था। वैक्य प्रदेश आज का काश्मीर ही तो था ! उसी श्री सम्पन्न भूमि की राजकुमारी होने के कारण रानी कैकेयी को इतना मोहक रूप प्राप्त हुआ था, जिसके वशीभूत होकर राजा दशरथ को अपनी शेष दो रानियों तथा चार पुत्रों का परित्याग करना पड़ा।”

“तो, क्या इच्छा है ?”

“वहीं चलकर स्थायी रूप से रहना।”

“अवश्य चलूँगा लालसा ! तुम्हारे लिए जब मैंने गृह त्याग कर दिया, तो काश्मीर की नहीं, चन्द्रलोक तक की यात्रा कर गूँगा। जाननी हो—प्रेम की शक्ति अदम्य होती है।” कहकर वचन में उसे आह्लास में आवृत्त कर लिया।

दूगरे दिन दोनों प्रणयी नैमिसारण्य क्षेत्र छोड़कर काश्मीर के पथ पर अग्रसर हो गए।

वचन भावबुध व्यक्तित्व था। पिता के निर्णय पर आश्रीतवश उगने गृह-त्याग करने समय, कोई विरोध सम्पत्ति नहीं ली थी। यात्रा के लिए सामान्यता सभी व्यक्ति कृष्ण-कृष्ण वाधेय और

मार्ग व्यय की व्यवस्था करते हैं; पर कंचन ने वह कुछ भी नहीं किया। जिस स्थिति में था वैसे ही चल पड़ा था। सम्पत्ति—उसके पास केवल कुछ रत्न और आभूषण थे, बस।

काशी से अयोध्या तक तो किसी प्रकार निर्वाह हो गया; किन्तु आगे के लिए कोई साधन न था। तब कंचन ने अपनी मुद्रिकायें और हार बेचकर कुछ द्रव्य प्राप्त किया और उत्तर की ओर प्रस्थित हुआ। नैमिसारण्य में काश्मीर निवास का निश्चय कर चुकने पर उसने सोचा—विदेश और प्रवास के लिए पर्याप्त धन होना चाहिए, नहीं तो समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक दिन राह में उसने लालसा से भी अपना विचार प्रकट कर दिया—

“लालसा ! सम्पन्न जीवन व्यतीत करने के अम्भस्त होते हुए भी हम दोनों अपने साथ कोई वैभव अथवा सम्पदा लेकर नहीं चले हैं। सोचता हूँ—काश्मीर में निर्वाह के लिए कौन-सा मार्ग ग्रहण करना पड़ेगा। मान प्रतिष्ठा भी अक्षुण्ण रहे, और हम दोनों सुखी जीवन व्यतीत कर सकें, इसके साधन भी खोजने पड़ेंगे।”

“यदि आप मेरी संगीत कला का लाभ उठाना चाहें, तो मैं प्रतिक्षण सेवा के लिए प्रस्तुत रहूँगी।”

“तो क्या मैं भी सोमदत्त बन जाऊँ ? तुम्हारा प्रदर्शन करके यदि उसे मैंने अपनी जीविका का आधार बनाया, तो मेरी भात्मा स्वयं को धिक्कारेगी। और विश्वास करो लालसा ! मैं भात्मा का धिक्कार सहने का अम्ब्यासी नहीं हूँ।”

“मैंने सहज भाव से कहा था स्वामी”—लालसा ने उसे विचलित होते देखकर हाथ पकड़ लिया—“यह मेरा नहीं, मेरी कला का प्रदर्शन होगा। कला प्रदर्शन तो गौरवपूर्ण माना जाता है ! आप सिन्न क्यों हो रहे हैं ? यदि संगीत-साधना को आप र्याग्य समझते हैं, तो मेरे आभूषणों का प्रयोग कीजिए। उन्हें बेचकर आप

को पर्याप्त धन मिल जाएगा ।”

“प्राभूपण !” कंचन ने चकित होकर जैसे स्तब्ध से कहा ।

“हाँ, बाशी से चलने समय में अपनी प्रणामन पेटिना साथ लेनी
पाई है; क्योंकि सौन्दर्य-रक्षा के प्रति सजग रहना मेरा मिथ्या है ।
स्त्री के पास दो ही साधन तो हैं अपना अस्तित्व स्थायी रखने के
लिए—रूप और गूण, रूप को मैं प्रदानता देती हूँ क्योंकि यह प्राणि
मात्र के आकर्षण का केन्द्र बिन्दु है । मेरी पेटिना में कुछ प्राभूपण
है । उन्हें बेचकर आप अर्थ सबट से मुक्त हो सकते हैं ।”

“क्या वह रही हो लालसा ! तुम्हारे प्राभूपण बेचकर मैं
जीविका चलाऊँ ? कभी नहीं ? यह तो मेरी निदिश्यता होगी ।
मेरे पौरुष का, मेरे अहम का उपहास होगा । मैं इतना स्पर्ण नहीं
हो सकता । किसी प्रकार काश्मीर पहुँच जाऊँ, बस । फिर तो कुछ
न कुछ साधन मिल ही जाएँगे ।”

“तो भी—लालसा ने साग्रह कहा—“काश्मीर पहुँचने में कुछ
न कुछ विलम्ब अवश्य लगेगा । कम से कम तब तक के लिए तो
कोई व्यवस्था हो ही जानी चाहिए । आप मेरा द्वार बेच डालिए ।”

कंचन गम्भीर होकर सोचने लगा, कुछ बोला नहीं ।

“किसी प्रकार का खेद अथवा पश्चात्ताप न करे । ईश्वर
की कृपा होगी, तो प्राभूपण फिर बन जाएँगे । इस समय जो समस्या
हो, उसका समाधान बीजिए । द्वार निकालूँ ?”

घोड़ी दर मनोमयन से छुट्टी पाकर कंचन ने एक लम्बी साँस
छोड़ी और कहा—“अभी रहने दो, यहाँ कोई वैसा धनाढ्य भी
नहीं है । आगे किसी नगर में देखा जाएगा ।”

लालसा सन्तुष्ट हो गई । विषय परिवर्तन हो गया और दोनों
हाम-विलास की खर्चा करने लगे ।

गद्गुप्तेश्वर का राजा कंचन की पहचानता था । कंचन ने कहा

हुँचकर दो आभूषण उसे भट कर दिए। राजा रत्नों का पारखी था और उदार भी। कंचन की निर्वासन-कथा सुनकर उसने अलंकारों के मूल्य स्वरूप दस सहस्रमुद्रायें और पाँच सेवक देकर उसे आश्वस्त किया—“यदि काश्मीर में रहते हुए कभी कोई प्रश्न उठे, तो निस्संकोच सूचना भेजकर यहाँ से सहायता माँग लेना। यों, रहना चाहो तो मैं तुम्हारे लिए यही व्यवस्था कर दूँ।”

लेकिन कंचन गडमुक्तेश्वर में ठहरा नहीं; वह राजा की कृपा के प्रति अतिशय कृतज्ञ होकर भी, काश्मीर के लिए चलता रहा। वस्तुतः वह स्वयं भी लालसा की भाँति वहाँ का निवासी होने के लिए लालायित था।

गडमुक्तेश्वर से प्रस्थान करने के पश्चात् घटनाक्रम से कंचन के विचारों में परिवर्तन हो गया। वह प्रशंसाभिलाषी व्यक्ति था। राह में जहाँ भी ठहरता, लालसा के प्रशंसकों की भीड़ तंग जाती थी। उसके साथ लोग कंचन की भी सराहना करने लगते थे—“बड़ा भाग्यशाली युवक है यह; तभी तो ऐसी रूपसी का पति हो सका है! इतनी सुन्दर और सुकुमार युवती कहानियों के प्रतिरिक्त और कहाँ मिल सकेगी?”

तब, लालसा की इच्छा जानकर कंचन ने अपनी प्रशंसा को द्विगुणित करने के लिए सगीत का माध्यम अपनाकर निर्णय किया। सोचा—अनुचित क्या है? लालसा मेरी पत्नी है, मेरे साथ तो रहेगी! गीत और नृत्य का प्रदर्शन तो देवांगनाएँ तक करती हैं! अभी केवल इसका रूप प्रदर्शित हो रहा है; तब तो रूप और गुण दोनों की सराहना होगी। मैं स्वयं भी थोड़ा-बहुत अभ्यास कर लूँ, तो संतुलन बन जाएगा। बंभय-विलास और प्रतिष्ठा सब मुँह में रहेंगे। पहले सोमदत्त भी तो यही करता था।

और सोमदत्त का स्मरण होने ही चिदम्बरम् के विष्णुमन्दिर

का दृश्य उसकी घाँटों में घूम गया ।

घायावित्त और काश्मीर की सीमा पर हड़पुर नामक एक छोटा-सा किन्तु सम्य सम्पन्न नगर था । कंचन ने वहाँ पहुँचकर अपनी प्रायश्चित्तता की कई वस्तुयें लीं—वाद्ययंत्र, सेवक, रथ, घोड़े, वस्त्र और अन्य प्रयोजनीय उपकरण; फिर अपने रहन-सहन में आमूल परिवर्तन करके, सोमदत्ता के से वातावरण में काश्मीर की ओर चला । अब उसके प्रात्मबल और तेज में वृद्धि हो गई थी । मन उत्साह से पूर्ण था । न कोई खेद, न चिन्ता । उर्वशी और मेनका को लज्जित करने वाली लालसा जैसी रमणी और इन्द्रसभा को हनप्रभ करने वाले अपने नृत्य वर्ग के साथ, वह जिस मार्ग से निकलना, जट-चेतन सब चर्चिन रह जाते थे । नर-नारी उनकी प्रशंसा करते घबरे नहीं थे, वन्यपशु अपना विचरण भूलकर उन्हें एकटक देखने लगते थे, और दृष्ट उनके सम्मान में डालें झुका देते थे, मानो हाथ हिला-हिलाकर स्वागत के लिए बुला रहे हों ।

हड़पुर से घागे का मार्ग कंचन के लिए बहुत ही सम्मानप्रद रहा । जहाँ भी पहुँचना, सुविधाएँ साकार रूप में उस के लिए प्रस्तुत रहती थी । लालसा का रूप और संगीत, चतुर्दिक उसकी श्यामि का विस्तार कर रहा था । नृत्यकर्म की तत्परता, साधनों की उपलब्धि और मनोनुकूल वातावरण ने कंचन का सारा अवगाद मिटा दिया । अब वह निश्चिन्त हो गया—वनवास की अवधि समाप्त हो चुकी, अब मैं राजभोग का अधिकारी हूँ ।

पारिवारिक बहिष्कृति के टीक दो वर्ष पश्चात् कंचन काश्मीर की राजधानी श्रीनगर पहुँचा । यही उसका मनोनीत सरय था, यही उसका गन्तव्य । साधन-सम्पन्न था ही, सुरम्न एक अन्य भवन से लिया और उसी में दलबल सहित निवास करने लगा । नियमित रूप से भोजन, भजन, विधाम-विलास, और संगीत-साधना उसकी

दिनचर्या के अंग बन गए। भृत्य-वर्ग सेवारत था। वैभव-विहार की इस चरम सीमा पर पहुँचकर कंचन ने सोचा—स्वर्ग का सुख यही तो है !

एक दिन वाटिका में टहलते हुए, उसने लालसा से पूछा—

“यह नगर कैसा लगा तुम्हें ?”

प्रसन्नता से लालसा ने उत्तर दिया—“यथानाम तथा रूप है। जैसी ख्याति सुनी थी, वही प्रत्यक्ष हुई।”

“विश्वास है, यहाँ रहकर सुम काशी-त्याग के अवसाद से मुक्त हो जाओगी।”

“क्या काशी, क्या कौशल, और क्या काश्मीर; मैं आपके साथ रहकर कहीं भी अवसाद ग्रस्त न हो सकूँगी। चिन्ता और शोक प्राणी के भयकर शत्रु हैं; किन्तु ये एकान्त में ही आक्रमण करते हैं। व्यस्त अथवा जन संकल वातावरण में इनका प्रभाव कम होता है। आपके साथ मुझे मरोरजन के इतने साधन सुलभ हैं कि प्रयास करने पर भी एकान्त नहीं पा सकती। ऐसी दशा में अवसाद मुझे कैसे आक्रान्त कर सकेगा ?”

“मैंने सोचा था—सम्भव है; भौतिक सुख-साधनों का अभाव तुम्हें कष्टप्रद प्रतीत हो।”

“कदापि नहीं प्रियतम ! इतना अविश्वास मुझ पर न करें। फिर भौतिक सुख-साधन भी तो प्रस्तुत हैं ! किस कुभाव से मैं प्रपना मन सिन्न करूँगी ? आप निश्चिन्त रहें; मैं आपके साथ पूर्ण रूप से सुखी हूँ।”

“आह ! अब क्या बताऊँ लालसा ? तुम्हारी यही गहिष्णुता, ही सनोली मनोवृत्ति तो मुझे कथित कर देती है। मैं अपने को, आपके सामने अपराधी और पराजित जैसा अनुभव करता हूँ। मेरा आत्म-अंश, मेरे दंभ को धिक्कार देता है। विन्तु विश्वास

करो, मैं निष्किय नहीं हूँ। साप की अवधि अब समाप्त समझो। मैं अपने प्रदेश का विस्वात रत्न परीक्षक हूँ जिस दिन काश्मीर प्रदेश में भेंट करूँगा, वे मुझे राजसभा में स्थायी रूप से स्थान दे देंगे। और तुम्हारी कला पर जो पुरस्कार मिलेगा, वह अतिरिक्त सफलता होगी।”

“देखिये अब नटवर गिरधारी की कृपा होती है।” कहकर मानगा ने पद्म शब्दा भाव से धीरे-धीरे मूँदकर आकाश की ओर हाथ जोड़ दिये।

“हममें विलम्ब नहीं है मानगा। उन लीलामय की व्यवस्था बड़ी शिथिल होती है। क्षणभर में ही मसार का उदय-प्रसन्न कर सकी है। उनका गन्तव्य होने ही तुम्हारे पास अपना विद्यालय भवन होगा, मैं वही दाम-दासी और वाहन उपलब्ध रहेंगे, भौतिक सुखों का आभार तुम्हारी सृष्टि की प्रतीक्षा करेगा, और इसे ध्रुव निश्चिन्त समझो—इन्द्रलोक का अग्निश्व यदि कही है—तो उसका वैभव तुम्हारा चरण-चूमन करेगा।”

“अरे, यह वाक् पाण्डुरी! आप तो बर्बि नहीं थे।” कहकर मानगा गिरधरिना उठी।

“क्या? बर्बि का क्या प्रयोजन?” लज्ज में बड़े जा रहे कपल की टोकन जैसी लगी।

“लेगा आपका भविष्य, आपकी बंते दृष्टिगोचर ही रहा है? यह तो वैश्व बर्बि-कल्पना में ही आपका अग्निश्व शक्त है, प्रत्यक्ष जगत् में इसकी सम्भावना नहीं है?”

“बर्बि-कल्पना नहीं, तुम्हारे प्रति यह मेरी कामना है।”

“आरम्भ की धीरे-धीरे आपकी धोभा नहीं देना।”

“आरम्भ ही नहीं। पर वह मेरा अधिकार तो है ही। हमने क्यों बर्बि बन रही हो?”

पुलकित होकर लालसा ने कंचन
 कंचन की चिर तृष्णा उद्दाम हो
 अपने भुजपाश में बाँध लिया और स
 पुष्प तोड़कर, उसके कपोलों पर फेरते
 वाटिका में अधिक देर तक न रहा
 को देखकर यहाँ के पुष्प भी लज्जित हो
 कली, विकसित होने के पूर्व ही कुम्हला म
 सम्मुख, इसने अपने अस्तित्व को नगण्य सम
 उत्तर में लालसा का और प्रत्युत्तर
 ाश दृढ़तर हो गया ।

कर सिंह के पास पहुँचे। देखा—सिंह अचेत पड़ा है और मुनि-वाला शान्त-निर्मल भाव से खड़ी उमकी ओर देख रही है। उसके मुख पर न कोई चिन्ता है, न उद्वेग ? जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

श्रद्धावनत होकर महाराज ने प्रणाम करते हुए उससे पूछा—
“देवि ! आपका स्थान कहां है ? आज्ञा दीजिए, साथ चलकर पहुँचा दूँ। यद्यपि, तपोबल द्वारा आप अपनी रक्षा में समर्थ हैं; किन्तु मैं भी आपकी सेवा के लिए इच्छुक हो उठा हूँ। एक क्षण का अवसर पाकर भी, समझूँगा कि जीवन सार्थक हो गया।”

“भद्र ! आप कष्ट न करें। कुटी समीप ही है। पिताजी की आज्ञानुसार-पूजा के लिए पुष्प चयन करने यहाँ आई थी; किन्तु इस दुष्ट ने उसमें विघ्न उपस्थिति करना चाहा था। अब दण्डित होकर कभी किसी तपस्वी की अवज्ञा का साहस नहीं कर सकेगा आप निश्चिन्त रहें, मैं चली जाऊँगी।”

उस कानन वाला की तेजस्विता मनोबल और निष्कलुष मु-को देखकर महाराज और भी विनत हो उठे—“यदि आपको को आपत्ति न हो तो आश्रम चलकर मैं भी ऋषिवर के दर्शन क लूँ।”

मुनिवाला ने सहज स्वर में उत्तर दिया—“आपत्ति की त कल्पना ही व्यर्थ है। पिताजी के पास दूर-दूरके विद्वान आया करे हैं। इस समय भी मगध के राज-पुरोहित विष्णु शर्मा हमारे प्रति हैं। वे संभवतः पिताजी से ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेंगे।”

अहोभाग्य—महाराज ने पुलकित होकर कहा—“कि ऐसे मनीषी विद्वानों के दर्शन सहज सुलभ हो जाएँगे !”

“तो फिर चलिए !”

“किन्तु एक जिज्ञासा है—इस सिंह का क्या होगा ? क्या म-चुका है ?”

करें; प्रभु की कृपा से सब अच्छा ही होगा। राजवैद्य को फिर से बुलाकर महाराज को नाड़ी परीक्षा करा लीजिए। समारोह के प्रबन्धक को राजकोष से गतवर्ष की भौति धन दिला दीजिए; वह भतिधियों को ससम्मान विदा कर देंगे। महाराज की धनुपस्थिति के लिए आप स्वयं क्षमा याचना कर लें। मैं मन्दिर में रहूँगा; आप राजवैद्य का कथन मुझ से बताएँगे, कि उन्होंने क्या व्यवस्था दी ? मैं संध्या समय भारती का प्रसाद लेकर महाराज के पास जाऊँगा।”

रत्नदत्त ने आदरपूर्वक गिर झुका लिया।

आचार्य कौशिक पादुकाओं की ध्वनि गूँजारते हुए, गम्भीर मन से चले गए।

रत्नदत्त ने आचार्य के निर्देशानुसार मारी व्यवस्था की। वैद्य जी को महाराज के पास भेजकर कोषाधिकारी से प्रबन्धक को धन दिलाया और सारे भतिधियों को ससम्मान विदा किया। प्रबन्ध में कोई त्रुटि नहीं होने पाई। सब कुछ यथोचित रूप में होता रहा। प्रभाव था, तो एक—उस दिन किसी को महाराज के दर्शन नहीं हुए।

सायंकाल रत्नदत्त, वैद्य जी को लेकर मन्दिर में पहुँचे। आचार्य कौशिक कोई धर्म ग्रन्थ देख रहे थे। वार्तालाप के समय वैद्यवर ने बनावश—

“महाराज की शारीरिक क्षीणता का एकमात्र कारण उनकी मनोव्यथा है। किसी आकस्मिक घटना अथवा कल्पनाहीन उद्वेग से उनका हृदय बिनाजन्म रूप में प्रभावित हो गया है। यद्यपि प्रहार अप्रत्यक्ष है; तथापि महाराज की सहनशक्ति से अधिक है।”

“आपने कोई उपचार किया था ?” आचार्य ने पूछा।

“हाँ, निद्रादायक सत्वों से बनी सपेंगपावटी सेवन कराई है। उरुसे मानसिक उद्वेग कुछ शान्त हो जायगा। किन्तु वह उद्वेग

गर गिह के पाग पहुँचे । देगा—गिह मचेत पड़ा है और मुनि-
 थाना शान्त-निर्मय भाव से खड़ी उसकी ओर देख रही है । उसके
 मुख पर न कोई चिन्ता है, न उद्वेग ? जैसे कुछ हुआ ही नहीं ।

श्रद्धायन्त होकर महाराज ने प्रणाम करते हुए उससे पूछा—
 “देवि ! आपका स्थान कहाँ है ? आज्ञा दीजिए, साय चक्र
 पहुँचा दूँ । यद्यपि, तपोबल द्वारा आप अपनी रक्षा में समर्थ हैं,
 किन्तु मैं भी आपकी सेवा के लिए इच्छुक हो उठा हूँ । एक क्ष
 का अवसर पाकर भी, समझूँगा कि जीवन सार्थक हो गया ।”

“भद्र ! आप कष्ट न करें । कुटी समीप ही है । पिताजी की
 आज्ञानुसार-पूजा के लिए पुष्प चयन करने यहाँ आई थी; किन्तु
 इस दुष्ट ने उसमें विघ्न उपस्थिति करना चाहा था । भव दण्डित
 होकर कभी किसी तपस्वी की अवज्ञा का साहस नहीं कर सकेगा ।
 आप निश्चिन्त रहें, मैं चली जाऊँगी ।”

उस कानन वाला की तेजस्विता मनोबल और निष्कलुष मुग्ध
 को देखकर महाराज और भी विनत हो उठे—“यदि आपकी कोई
 आपत्ति न हो तो आश्रम चलकर मैं भी ऋषिवर के दर्शन कर
 लूँ ।”

मुनिवाला ने सहज स्वर में उत्तर दिया—“आपत्ति की तो
 कल्पना ही व्यर्थ है । पिताजी के पास दूर-दूर के विद्वान आया क
 हैं । इस समय भी मगध के राज-पुरोहित विष्णु शर्मा हमारे प्रति
 हैं । वे संभवतः पिताजी से ब्रह्मविद्या की दीक्षा लेंगे ।”

अहोभाग्य—महाराज ने पुलकित होकर कहा—“कि ऐ
 मनीषी विद्वानों के दर्शन सहज सुलभ हो जाएँगे !”

“तो फिर चलिए !”

“किन्तु एक जिज्ञासा है—किस दिग्गज का—

करे; प्रभु की कृपा से सब अच्छा ही होगा। राजवंश को फिर से
 बुनाकर महाराज की नाडी परीक्षा करा लीजिए। समारोह के प्रबन्ध-
 क को राजकोष से गतवर्ष की भाँति घन दिला दीजिए; वह भति-
 थियों को ससम्मान विदा कर देंगे। महाराज की अनुपस्थिति के
 लिए आप स्वयं क्षमा याचना कर ले। मैं मन्दिर में रहूँगा; आप
 राजवंश का कथन मुझ से वनाएँगे, कि उन्होंने क्या व्यवस्था दी ?
 मैं संघ्या समय भारती का प्रसाद लेकर महाराज के पास जाऊँगा।”

रत्नदत्त ने आदरपूर्वक सिर झुका लिया।

आचार्य कौशिक पादुकाओं की ध्वनि गुँजारते हुए गम्भीर मन
 से चले गए।

रत्नदत्त ने आचार्य के निर्देशानुसार मारी व्यवस्था की। वंश
 जी को महाराज के पास भेजकर कोषाधिकारी से प्रबन्धक को घन
 दिलाया और सारे भतिथियों को ससम्मान विदा किया। प्रबन्ध में
 कोई त्रुटि नहीं होने पाई। सब कुछ यथोचित रूप में होता रहा।
 अभाव था, तो एव—उस दिन किसी को महाराज के दर्शन नहीं
 हुए।

सायबाब रत्नदत्त, वंश जी को लेकर मन्दिर में पहुँचे। आचार्य
 कौशिक कोई धर्म ग्रन्थ देख रहे थे। वार्तालाप के समय वंशजी ने
 बताया—

“महाराज की शारीरिक क्षीणता का एकमात्र कारण उनकी
 मनोव्यथा है। किसी आकस्मिक घटना अथवा कल्पनाहीन उद्देग से
 उनका हृदय चिन्ताजनक रूप में प्रभावित हो गया है। यद्यपि प्रहार
 अप्रत्यक्ष है; तथापि महाराज की सहनशक्ति से अधिक है।”

“आपने कोई उपचार किया था ?” आचार्य ने पूछा।

“हाँ, निद्रादायक सर्वाँ से बनी सर्पगण्डकी सेवन कराई है।
 उरुसे मानसिक उद्देग कुछ शान्त हो जायगा। किन्तु बह उद्देग

प्रचलित परम्परायें भी बालान्तर में विद्वत् हो जाती हैं। ऐसा ही कुछ काश्मीर में भी हुआ। महाराज यशोवन्तु के परचात् नरेस मीनबेनु गिरासनाधीन हुए। वे यथा नाम तथा मुग धे—सायात् 'मीनबेनु' के अन्वय 'बड़े ही शिवागी और रमिक। काश्मीर के इतिहास में उन जैसा गुरा-गुन्दरी प्रिय नरेस कोई नहीं हो सता। इस क्षेत्र में ये अद्वितीय थे।

नामन गत्ता प्राण्य होने पर महाराज मीनबेनु ने 'शिवदेवी' की परम्परा में मसोधन किया। उनका मकं था—'नागी नर की पूरक है—अर्धा गिनी है। एतान्नाम और तपस्वियों द्वारा उसकी गायंकाता नष्ट हो जाती है। भोजित जगत् में रज्जर भी उन्ने पृथक्- -अमपृथक् रहने की कल्पना करना उन्ने प्रहार हास्यास्पद है, जैसे किसी गर्भेय भ्रूण में शिखर अभिमान की धारा हो जाय। यह सब धारणा के प्रति अहमंय मनुष्यों का दम है और प्रकृति के प्रति वक्तव्य। नागी गौन्दरं का धारणा है, और गौन्दरं पुरन का उपभोग्य है। नागी का नागीय उन्ने नाया अर्थात् शिवदेवी में नहीं, उसके अन्व-गौन्दर और धारण में है। योय जगत् में उदासीन और तनायनवादियों की स्थिति, जो तानय के नाम पर निरन्तर बुद्धादयन रहती हैं। इन्द्रिय दमन के द्वारा ही शीतल ही मूर्ख अमी दीन पहनी है, उन्हें 'शिवदेवी का' मन्वय का उपहास है। मन्वय का धारण है और गौन्दरं अर्थात् अर्थात् की अर्थात् मन्वय का परिचय है। यह ही शिवदेवी की नहीं गी-दुर्गे मन्वय मन्वयों की धारण का धारण है।

प्रचलित परम्परायें भी कालान्तर में विवृत हो जानी हैं। ऐमा ही कुछ काश्मीर में भी हुआ। महाराज यशकेतु के पश्चात् नरेश मीनकेतु सिंहासनाधीन हुए। वे यथा नाम तथा गुण थे—साशान् 'मीनकेतु' के अवतार! बड़े ही विलासी और रसिक। काश्मीर के इतिहास में उन जैसा सुरा-मुन्दरी प्रिय नरेश कोई नहीं हो सका। इस क्षेत्र में वे अद्वितीय थे।

शासन सत्ता प्राप्त होने पर महाराज मीनकेतु ने 'विश्वदेवी' की परम्परा में संशोधन किया। उनका तर्क था—'नारी नर की पूरक है—अर्धांगिनी है। एकान्तवास और तपश्चर्या द्वारा उसकी मायंकता नष्ट हो जाती है। भौतिक जगत् में रहकर भी उसमें पृथक्—असपृक्त रहने की कल्पना करना उसी प्रकार हास्यास्पद है, जैसे किसी गर्भस्थ भ्रूण से शिखर अभिमान की घाटा की जाय। यह सब आत्मा के प्रति अकर्मण्य मनुष्यों का दंभ है और प्रकृति के प्रति बंचना। नारी मोन्दर्य का घातक है; और मोन्दर्य पुरुष का उपभोग्य है। नारी का नारीत्व उसकी तपस्या और विरक्ति में नहीं, उसके रूप-यौवन और आकर्षण में है। जीवन-जगत् से उदासीन और पलायनवादियों की मित्रिणी, जो तपस्या के नाम पर निरन्तर कुष्ठाग्रस्त रहती हैं, इन्द्रिय दमन के द्वारा जो जीवन ही मूर्ख जैसी दोग पड़ती हैं, उन्हें 'विश्वदेवी' कहना सम्मान का उपहास है, मस्कृति का अणु-पान है और पौरुषीय व्यक्तियों की स्त्रैण मनोवृत्ति का परिचायक है। अतः अविवागिनियों की नहीं, मोन्दर्य सम्मान समनार्थों की प्रतियोगिता हुआ करेगी, त्रिमये रूप-यौवन और आकर्षण को नारीपदा दे शिष्य दिया जाया करेगा।"

सम्पत्ता का प्रकार प्रदर्शनवादी होता है। कला और मनु के नाम पर उसमें घनेच आकर्षण उत्पन्न किए जाते हैं, जो अन्

विलासिता को प्राथम्य देने हैं। महाराज यशवेतु के द्वारा प्रचलित विश्वदेवी प्रतियोगिता, मीनवेतु के समय में मीन्द्रयं—प्रदर्शनी का रूप ले लिया था और, आज—महाराज मुधाकर देव के शासन काल में तो वह वेदव्याघ्र, नतंक्रियो का अस्वाहा जैसा हो गया है। फिर भी, देश-विदेश की मृन्दरियाँ उसमें सत्प्र भाग लेती हैं। जो विजयिनी होती है वह भरपूर पुरस्कार के साथ 'विद्यमृन्दरी' की गौरवमयी उपाधि से विभूषित होकर समार के मौदर्य प्रेमियों की चर्चा का विषय बनती है।

मारा वृत्तान्त सुनकर कचन ने निश्चय किया—मैं लालसा को अक्षय्य इसमें सम्मिलित करूँगा।

घर जाकर उसने लालसा को साग इतिवृत्त मृनाकर कहा—
 "बन्नी, प्रभु की कृपा से ही यह अक्षय्य मिला है। हमें इसका लाभ अक्षय्य उठाना चाहिए। न जाने कौन, भेरी आत्मा में पुकार-पुकार कर कह रहा है—इस बार विजयध्री लालसा को ही प्राप्त होगी। उठो, शृणुकर कर लो उम्सव का समय निकट आ गया है। मैं तुम्हें प्रतियोगिता में अक्षय्य प्रदर्शित करूँगा। कम से कम, दर्शक यह तो समझ लेंगे, कि ऐसा सयोग, रूप-गुण और मगीत-पारगति—सहज मूलम नहीं होता।"

लालसा सत्प्र प्रस्तुत हो गई और एक घड़ी पदचाल् दोनों मुस-
 श्रित वेगमूपा में, समागोह स्थल की ओर चल पड़े। दोनों के मन आसा और उत्साह से पुलकित थे—भगवान की दया हम पर अक्षय्य होगी।

दर्शकगण यथास्थान बैठे थे। सेवक-वृन्द ताम्बूल, सुगन्धि और पानक वितरण कर रहे थे। सभा-मण्डप के बीचोबीच, रगमच के समीप ही रत्न जटित आसन पर महाराज मुधाकर देव विराज-
 मान थे। पार्श्व में निर्णायक समिति के सदस्य बैठे हुए प्रदर्शन की

प्रतीक्षा कर रहे थे ।

महाराज ने एक बार चारों ओर देखा । नर-नारियों का समूह मनोरम वेशभूषा में सज्जित, सारे पंडाल को चित्रशाला जैसा बना रहा था । उन्होंने संकेत किया । उद्घोषक ने समारोह के आदिम इतिहास पर प्रकाश डालते हुए, भाज के उत्सव की सफलता की कामना व्यक्त की । तत्पश्चात् नेपथ्य में शंख ध्वनि के साथ विभिन्न वाद्ययंत्रों का समबंन स्वर गुँजा । यह समारोह के आरम्भ होने की सूचना थी । दर्शक सजग-स्तब्ध होकर मंच की ओर देखने लगे । नेत्र स्थिर हो गए, इधर-उधर से हटकर ध्यान मंच पर केन्द्रित हो गया और वे प्रतीक्षा करने लगे—देते भाज किस देश की सुन्दरी अपनी विजय पताका लहराती है ?

उत्सव को अन्तराष्ट्रीय ख्याति मिल चुकी थी । गुरूर पूर्वी और पश्चिमी देशों के दर्शक और सुन्दरी-समूह उगमे भाग लेने के लिए आते थे । मंच निर्देशक का संकेत पाकर सूत्राधार ने मुख्य स्थल पर लटक रहा भावरेण हटा दिया । उनके पीछे एक गायत्री वाता सजी थी । लोगों ने देखा, तो मुग्ध हो गए रूप सावण्य की वह प्रतिभा उन्हें अतिमय प्रिय लगी ।

फिर कमना: एक-एक करके बर्दे देनों की सुन्दरियों ने अपने-अपने रूप, मञ्जा, मुद्रा और नृत्यज्ञान का प्रदर्शन किया । दर्शकों का कौतूहल बढ़ता जा रहा था । 'धन्य-धन्य' के शब्दों से कभी कभी लोगों को धेष्टता मिलती थी, कभी किमी को । सब लोग अन्तिम निर्गुण की प्रतीक्षा कर रहे थे ।

पहले कथन का मन नहीं था कि वह सानगा को मंच पर भेंद्रे । एक प्रकार का अन्तर्द्वन्द्व उसे धामे-पीछे की ओर लीख रहा था । किन्तु अनेकानेर सुन्दरियों के प्रदर्शन एवं उनको मिलने वाली का देनकर वह अपनी यश विद्या पर तयम न कर गया ।

अन्नतः उगने मानसा मे बहः—“प्रिये ! स्थिति और प्रणय के गिअर पर पहुँची हुई इन देग-देगान्तर की मुन्दरियों के मध्य, अब तुम अपने रूप और कर्मा का कीर्तिमान ख्याति करो । यदि मर-लता मिल गई, तो हम दोनों राजसुग के अधिकारी हो जाएँगे । उठो, मंच पर जाकर अपने मगीत और नृत्य के सम्मोहन का प्रभाव दिखाओ । हम लाग्ग-मण्डली के बीच, बिना तुम्हारे खन्डोदय हुए, रंगमंच प्रकाशित न होगा । देगो न दर्शक समूह बितने घानुर हो रहे है ।”

लालसा महन्वाकाक्षिणी मारी थी । वैभव-विनाम की चरम सीमा उसके जीवन का ध्येय था । मीमदन्त के माथ वह विवग भाव से रही थी । उसकी अपेक्षा कचन अधिक रचा था किन्तु गृह त्याग के बाद वह भी वैभव खचिन हो गया था, अन्तर्गु लालसा की आकाशाये कुञ्चित हो गई थी । यह अभाव, यह वेदना उसे कभी-कभी कचन से दूर, शून्य मे किसी अन्तर्गु आधार की खोज मे भटका देती थी । उस समय लालसा की मनोदगा उस एकाकी पक्षी की भाँति हो जाती थी, जो महासागर का सन्तरण करने हुए जलयान की पनाका को छोडकर दूसरे आश्रम की खोज मे इधर-उधर उठता है, किन्तु चारो ओर से निराश होकर अन्तत फिर उसी पर आ बँटना है । लालसा कचन से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थी । वही कोई अज्ञान-सा अभाव लटकना रहता था, ओर उसकी पूति के लिए वह जाने-अनजाने कभी-कभी जीवन-जात के दूमरे क्षेत्रों की ओर उन्मुख हो जाती थी ।

कचन का निर्देश पाकर उसके अधिकारप्रिय स्वभाय मे र्धग-डाई ली । उठकर लडी हुई ओर मलस-मादक नेत्रो से दर्शक मण्डली का आह्वान करती हुई, भयन्द गति से मच की ओर चल पड़ी ।

जैसे ही, उसने मन्च पर पदार्पण किया, अमानिशा में चन्द्रोदय हो गया । उसका वह ज्वलन्त रूप, मादक सौन्दर्य, उन्मादकारी मुद्रायें और सुसज्जित वेश विन्यास देखकर, सारी सभा धकित रह गई । लगा—अब तक के सारे प्रदर्शन अवास्तविक और छायाभाष्य थे; विश्व का समस्त लावण्य अब मूर्तिमान होकर समक्ष उपस्थित हुआ है । कितने ही व्यक्ति तो उसे अलौकिक नारी—कोई देवलोक की सुन्दरी—मानकर मन ही मन थढ़ावन्त हो गए । वैसा मजीब सौन्दर्य, वैसा पुञ्जीभूत आकर्षण किसी ने देखा-सुना नहीं था ।

नृत्य आरम्भ हुआ । लालसा भारतीय प्रणाली के कितने ही नृत्यों में पारंगत थी । उसने सर्वथा विरोधी मुद्रा वाले नृत्यों का भी कुशलता से प्रदर्शन किया कि, उनमें भेद और सन्धि का पता चलना असम्भव हो गया । काश्मीर नरेश के सारे सभासद आश्चर्य चकित रह गए । दूसरे अतिथि भी मन ही मन सोचने लगे—यह मानवी है या किन्नरी ? लालसा ने गरुड़ नृत्य और सर्प नृत्य का मिश्रित रूप दिखाने में इतनी सफलता पाई कि दर्शकों को अपने पर सन्तुलन रखना कठिन हो गया । वे भाव विभोर होकर घासन उठ सड़े होने थे और बारम्बार 'घन्य-घन्य' की ध्वनि से पण्डाल कम्पित कर देते थे ।

भाव नृत्य के पदचात् लालसा ने एक गीत प्रस्तुत किया । गीत कथा था, अमृत की वर्षा थी । उसके मादक रूप, मोहक स्वर मधुर उद्दीपक मुद्रायें और वाद्ययंत्रों की मधुर ध्वनि ने सारी सभा को स्तब्ध कर दिया । ऐसा प्रतीत होने लगा कि लालसा ने अपने गीत द्वारा जो अर्थन स्तम्भित कर दिया है । मारे मदस्य मूर्तिवन् दंडे दृष्टि मे उगी की और देग रहे थे । किसी में न कोई धेन्टा । मत्रमुग्ध जेग धेन्टे थे सावगा के रूप और गंगीत

संकीर्ण समान होने पर मरेण मुपाकर देव ने मसागदी की सम्मति माँगी — “इस सारे सायोरन में साय लोग मफरना का अधिगत किसे देना चाहते ?”

जैसी कि प्रत्येक व्यक्ति का पुण्य धारणा थी, बिना किसी विवाद प्रतिरोध के, लानमा ही विरथयी की अधिकाङ्क्षी हुई। मत्री ने महागज के निर्णय का मानन हुए घोषित किया — “साय लोग जानकर प्रसन्न होते कि कलाविदों की सम्मति से महागज ने, इस कार्य की प्रतियोगिता में देवी लानमा का विद्वमुन्दगी की गौरवमय उपाधि प्रदान की है। साया है, साय सब लोग भी उन्हें अपनी सुभवामनायें अर्पित करेंगे।

दसवीं प्रतिक्रिया में समक्ष पर उनकी पुष्प वर्षा हुई कि क्षण भर के लिए महागज मुपाकर देव मत्री, लानमा और गजपुरोहित सदस्य हो गए।

“कदाचित् आपको सूचना नहीं मिल सकी—यदुनाथ ने हाथ जोड़कर बनाया—“महाराज बल रात्रि से अस्वस्थ हो गए हैं। उनका अनुपस्थिति का कारण है।”

“अस्वस्थ है। क्या हुआ उन्हें? उन्मत्त-समाप्ति तक तो स्वस्थ और प्रसन्न थे। पुरस्कार वितरण भी मोत्साह किया था। फिर सहसा किस व्याधि ने उन्हें प्रस्त कर लिया?” मंत्री के मन पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आईं।

“भाज घातः—यदुनाथ ने बनाया —राज-पुरोहित जी को बुलाया था। उसके पूछने पर महाराज ने बनाया था—“हृदय में उलझन सतापयुक्त पीडा, तथा मस्तिष्क में विस्मृति जैसी छाई हुई है। व्याधि बोलने नहीं, केवल दो-चार वाक्य कहकर चुप हो गए हैं।”

“भाज उठकर अंगन में आये थे?”

‘हां, आए तो थे, किन्तु बड़े कष्ट के साथ वे प्रतिशय शिवालय में चले गये हैं। घन-जल की तो चर्चा ही व्यर्थ है, उन्होंने औषधि नहीं ग्रहण की।’

“शिव! शिव! महाराज चिरायु हो। तुम जाकर राज-पुरोहित जी से निवेदन करो कि मैं अभी इसी समय उनसे मिलना चाहता हूँ। विदेशी अतिथियों की विदाई का प्रश्न विचार लो।”

गिर भुजाकर यदुनाथ ने आज्ञा स्वीकार की और मंदिर की ओर चल पड़ा। मंत्री रत्नदत्त वही विचारमग्न खड़े मोचते रह गए। इस प्रकार सहसा जिस विपत्ति ने हमारी व्यवस्था को छिन्न कर दिया था, उसका विचार किया है? यदुनाथ जो कुछ बता रहा है, उसके अर्थ से महाराज की स्थिति चिन्ताजनक प्रतीत होती है। उनका अस्वस्थ होना ही नहीं है। सब?

वे इन्ही मानसिक तर्क-वितर्क में उलझे हुए थे। सहसा रात

“यदुनाथ !”

यदुनाथ महाराज सुधाकर देव का खास विश्वासी अनुचर और एकान्त अंगरक्षक था। इस समय वह बैठा अपने घनुष की डोरी कस रहा था। सम्बोधन सुनकर उठ खड़ा हुआ। देखा, तो सामने से महामंत्री रत्नदत्त आ रहे थे। घनुष रख दिया और हाथ जोड़कर सम्मान प्रदर्शन करते हुए बोला—“भाज्ञा दीजिए।”

“महाराज अभी तक पूजागृह में नहीं पधारे ! समय समाप्त हो रहा है। सभासदों से भी उन्हें कुछ परामर्श करना था !” रत्नदत्त के स्वर में सहज चिन्ता का भाव था।

यदुनाथ ने कुछ कहना चाहा, तभी मंत्री ने फिर अपना वक्तव्य आरम्भ किया—“समारोह में आये हुए कई अतिथियों को विदा करना है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी कार्य है। इन विषयों पर मैं अपना एकांगी निर्णय देना उचित नहीं समझता। तुम अन्तः-पुर जाकर मेरी ओर से महाराज को इन प्रश्नों से अवगत करा कर उनका आदेश मेरे पास ले आओ। जिससे यदि वे आज सभा में आ सकें तो भी मैं सारी व्यवस्था कर लूँ।”

“हां मंत्रिवर ! आपका अनुमान सत्य है। महाराज आज और अश्वतः दो-चार दिन तक सभा में नहीं आ सकेंगे।”

“क्यों ?” मंत्री ने चकित होकर पूछा।

“कदाचिन् आपको सूचना नहीं मिल सकी—यदुनाथ ने हाथ जोड़कर बताया—“महाराज बल रात्रि से अस्वस्थ हो गए हैं। यही उनकी अनुपस्थिति का कारण है।”

“अस्वस्थ हैं। क्या हुआ उन्हें? उत्सव-समाप्ति तक तो पूर्ण स्वस्थ और प्रसन्न थे। पुरस्कार वितरण भी मोत्साह किया था। फिर सहसा किस व्याधि ने उन्हें अस्त कर लिया?” मंत्री के मुख पर चिन्ता की रेखायें उभर आईं।

“मात्र प्रातः—यदुनाथ ने बताया—राज-पुरोहित जी आये थे। उसके पृच्छने पर महाराज ने बताया था—‘हृदय में उद्वेग, सतापयुक्त पीडा, तथा अस्तिष्क में विस्मृति जैसी छाई हुई है। अधिक बोलने नहीं, केवल दो-चार वाक्य कहकर चुप हो गए थे।’

“मात्र उठकर आंगन में आये थे?”

‘हां, आए तो थे, किन्तु बड़े कष्ट के साथ वे अतिशय शिथिल हो गए हैं। अन्न-जल की लो चर्चा ही व्यर्थ है, उन्होंने औषधि भी नहीं ग्रहण की।’

“शिव! शिव! महाराज चिरायु हो। तुम जाकर राज-पुरोहित जी से निवेदन करो कि मैं अभी इसी समय उनसे भेंट करना चाहता हूँ। विदेशी प्रतिधियों की विदाई का प्रश्न विचारणीय है।”

मिर भुवाकर यदुनाथ ने आज्ञा स्वीकार की और मंदिर की ओर चल पड़ा। मंत्री रत्नदल वही विचारमग्न खड़े मोचते रहे— इस प्रकार सहसा किस विपत्ति ने हमारी व्यवस्था को छिन्न करने का विचार किया है? यदुनाथ जो बुद्ध बना रहा है, उसके अनुसार तो महाराज की स्थिति चिन्ताजनक प्रतीत होती है। उन्होंने औषधि तक नहीं ली। नव?

वे इन्ही मानसिक लक्ष-विकर्ष में उलझे हुए थे। महामा खड़ाबंदी

की ध्वनि सुनकर ध्यान भंग हो गया। घूमकर देखा तो दाहिनी ओर से राज-पुरोहित आचार्य कौशिक आ रहे थे—बुद्धिबल स्वस्थ शरीर, श्वेत केश मस्तक पर वैष्णव सम्प्रदाय का तिलक, नेत्रों में विद्वत्ता का तेज और आनन पर ब्राह्मण सुलभ तपश्चर्या की अलौकिक कान्ति। वे पीताम्बर और उत्तरीय धारण किये हुए थे जिसके नीचे से भाँकता हुआ यज्ञोपवीत उनकी क्रिया निष्ठा की सूचना दे रहा था।

मंत्री ने आगे बढ़कर उनकी आभारार्चना करते हुए हाथ जोड़कर सिर झुकाया—“आचार्यथी ! मैं रत्नदत्त आपको प्रणाम करता हूँ।”

“आपका मंगल हो।” आचार्य कौशिक ने कहा और स्वस्ति मुद्रा में हाथ ऊपर उठा दिये।

दूसरे क्षण वे आमने-सामने थे।

आचार्य कौशिक वस्त्रतः साधु प्रकृति के व्यक्ति थे। राज-

जैसे जलज विकसित हो जाय, सहज स्थिति के भाव से मुनि-
बाला ने कहा—“भाप चितित न हो, मैंने इसे एक प्रहर मात्र के
लिए दक्षित किया है; फिर यह उठकर चैतन्य हो जाएगा।”

“भच्छा !” सादर्यं श्रद्धा का भाव लेकर वे कन्या के साथ
चल पड़े ।

श्रीर, जइ नरोग ने विदा मांगी तो महर्षि गौरव ने अनेक
भागीपौ सहित उन्हें उपदेश दिया—

‘एव नामंस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता ।’

बाम्भोर लौटने पर महागज यशकेतु ने अपने राज पुरोहित
की सम्मति से, राजधानी में वार्षिक समारोह के रूप में देवी पूजा
का प्रचलन किया । नारांग का शिव की आदिशक्ति देवी का
प्रतीक मान उस सम्मानित करने का विधान किया गया । प्रति
वर्ष ईश्वर पूर्णिमा को विभिन्न दश-प्रदशा के मुनि परिवार एकत्र
होते थे, जिनमें परम्पर तपस्वियों, नाम्नायं और अष्टात्म पर
बार्तालाप होता था । प्रधानता शिवा को दी जाती थी । सामना
महिलाओं में आ सर्वाधिक तजस्विनी प्रतिभा सम्पन्न विदुषी
और शील-मयम मानिनी होती थी । उस आगामी पाँच वर्षों के
लिए विद्वद्वर्षी की उपाधि में विभूषित किया जाता था । इन
अर्वाधि में आर्य महर्षि के प्रसार का साग क्षत्र उस भगवती दुर्गा
सम्पत्नी और लक्ष्मी का अवतार मानकर श्रद्धा-विजन रहना
था । पाँच वर्षों में उस अनुत्त सम्मान और यश प्राप्त हो जाता
था । इन अर्वाधि के पश्चात् वह सबसे विरघ्न हाथर, निरा एतान्त
में तपस्वती करके साथ जीवन अपनीन करना थी । समाज-सम्पक
उसके लिए शर्तका निर्धारित हो जाता था । अन्त में उसने सब कहा
समाधि नी इसका किसी को पता भी नहीं चलता था ।

समय का आचरण बड़ा परिचयनकारी होता है । विर-

कैसा है, इसके विषय में यदि महाराज का कोई अन्तरंग व्यक्ति प्रयास करे तभी कुछ ज्ञात हो सकेगा। निश्चय ही, वह कोई गोपनीय विषय है, और महाराज उसकी चर्चा हम सबसे नहीं करना चाहेंगे।”

वाताररण गम्भीर हो गया था। थोड़ी देर तक तीनों राज प्रतिनिधि बातें करते रहे; फिर उठकर अपने-अपने स्थान की ओर चले गए।

एक सप्ताह बीत गया। महाराज की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। वे यथावत् अन्तःपुर में लेटे रहते थे। बाहर कभी नहीं आए। राज्य का सारा भार मन्त्री रत्नदत्त के ऊपर आ पड़ा था। सारे कर्मचारी उन्हीं की आज्ञानुसार कार्य कर रहे थे। आचार्य कौशिक की व्यवस्थानुसार, महाराज के कल्याणहेतु धार्मिक विधि-विधान भी किए गये; तन्त्र-मन्त्र और हवन पूजन की व्यवस्था की गई; किन्तु परिणाम कुछ न हुआ। वह सारी पूजा सारे विक्षिप्त प्रयास प्रभावहीन ही प्रसिद्ध हुए। नरेश का स्वास्थ्य, उनकी मनोदशा पूर्वत् रही तन-मन की व्यथा से व्याकुल, वे विक्षिप्तों की भांति निरन्तर करवटें बदलते रहते थे।

अगले दिन दोपहर के समय जब एक सेवक महाराज को चन्दन का जल देने गया, उन्होंने देखा—सेवक कुछ कहना चाहता है। पूछा—“क्या है? कुछ कहना चाहते हो?”

“हाँ, महाराज!” सेवक ने भय-संकुचित स्वर में उत्तर दिया।
“बताओ।”

“सेनापति जी आए हुए हैं, आपके दर्शन करना चाहते हैं।”

जैसे अन्धे को दिव्य दृष्टि मिल गई हो, इस प्रकार प्रसन्न-चकित मुद्रा में महाराज ने आतुर होकर पूछा—“सेनापति! क्या आए वह? कहाँ है इस समय?”

"भाज ही भाए है महाराज ! इस समय वे द्वार पर आपकी
की प्रतीक्षा कर रहे है ।"

"ले आओ !"

सेवक चला गया ।

महाराज सुधाकर देव सेनापति के विषय में सोच रहे थे—

सेनापति नागपाल ही तो मेरा एकमात्र अन्तरंग और अनन्य
है । मित्र और कुटुम्बी की भाँति हितैषी होकर भी वह
कितना आज्ञाकारी अनुगत है ! और बीरता में तो अद्वितीय
जस युद्ध में भी गया, विजय वरण करके लौटा । इतना निर्भीक
स्वयंभार कुशल है कि कोई भी संकट हो पार कर लेता है । युद्ध
की भाँति जीवन सधाम में भी उसे सदैव सफलता मिलती है ।
अवसर पर आया है । मेरे कष्ट निवारण का कोई न कोई
। अवश्य खोज लेगा ।

ठीक इसी समय नागपाल ने वहाँ प्रवेश करके महाराज को
। किया । महाराज उठ बैठे । नागपाल को देखते ही उनकी
। कई क्षणों में कम हो गई, शरीर में स्फूर्ति की एक लहर
दौड़ी और नेत्र कुछ अधिक तेजोमय हो उठे । पास बैठने का
। करने कहा—

"मेरे परम हितैषी ! तुम्हारी अनुपस्थिति ने मुझे जंजर कर
।"

"क्या करना महाराज, वहाँ प्रसंग ही कुछ ऐसा था गया था
। दुर्भेद बनना पड़ा । राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा पर यदुनों की
। घातमण्य करना चाहती थी । पता चलते ही, मैंने वहाँ के लिए
। न कर दिया । शत्रु को सीमा के बाहर परास्त कर देने से
। उ रहना है ; अन्यथा वह भीतर प्रवेश करने अधिक उपद्रव कर
। है ।"

। फर, क्या हुआ यवनों की सेना का .
 "वही जो होना था। आपके पुण्य प्रत... स मने उसके चार
 प्रधान नायकों को समाप्त कर दिया। पाँच मौ यवन बन्दी बनाए
 गए और शेष अपने अस्त्र-शस्त्र छोड़कर भाग गए। मेरा विश्वास
 है, वे अब कम से कम एक दशब्दी तक इस और देखने का साहस
 नहीं कर सकेंगे।"

"धन्य हो वीरवर ! तुम जैसे कर्तव्यपरायण व्यक्ति ही तो
 राज्यो की रक्षा करते हैं !"

नागपाल ने विनय और कृतज्ञता से मिर झुका लिया।
 महाराज मुघाकर देव कुछ मोचने लगे।

नागपाल ने पूछा—“आपकी अस्वस्थता का समाचार पाकर
 मैं चिंतित हो उठा हूँ। क्या कोई उपचार लाभप्रद नहीं हो रहा ?”

“हाँ, मित्र !—महाराज ने एक लम्बी साँस छोड़ी, जो उनकी
 निराशा को व्यक्त कर रही थी—“मेरी व्याधि अभी ज्यों की त्यों
 ?”

“क्या कष्ट है ? कही पीड़ा हो रही है ?”

“हाँ यही बात है। मेरे मन में, मस्तिष्क में और हृदय में,
 गि में पीड़ा हो रही। उसके कारण मैं व्याकुल हूँ। आज एक
 घंटे से भी अधिक हो रहा है, मुझे निद्रा नहीं आई, भूल मर
 और शरीर भीतर ही भीतर क्षीण होता जा रहा है।”

“अरे !—नागपाल ने शक्ति होकर पूछा—यह सब कैसे
 शराज ? मैं तो एक महीने से बाहर रहा हूँ; कुछ पता ही
 नहीं चल सका। आज अभी यदुनाथ ने बताया है। इस व्यथा ने
 आपको कैसे छू लिया ?”

“अब क्या बताऊँ नागपाल, अभी पिछले सप्ताह बड़ी ममारोह
 था—‘विश्वसुन्दरी प्रतियोगिता’ ! उमी ने मुझे मरवा
 १८२

कर डाला।”

नागपाल ने आशचर्य गमना नहीं था, चकिन दृष्टि में उतरी घोर देखना रहा।

महाराज ने घटना क्रम पर प्रकाश डाला—“उममे घनेक देशो की मुन्दरिया घाई थी—एक में तब बढकर। किन्तु जालमा ने सबको पराजित कर दिया। यही तब मैं भी उममे पराजित हो गया। यही मेने घषा का कारण है। अब यदि जालमा मुझे हस्तगत नहीं होनी तो मैं विक्षिप्त हो जाऊंगा, यह ध्रुव निश्चित है।”

“जालसा ! कौन जालसा ? महाराज ! यह मुन्दरी कहां से घाई थी ?” नागपाल ने पूछा।

“घरे बही—कामी बाने गायक कचन की प्रियमी।

आह ! अब मैं तुममे क्या बनाऊं मेनापति ! उस रमणी का सा युवक भूवन मोहन रूप मैंने बही नहीं देखा। उस समारोह में उमकी थी, उमका मौन्दर्य जैसे शतगुण होकर निखर उठा था। वैसा अचेतनकारी रूप, वैसी उन्मादक मुद्रा और वैसा मनोहर नृत्य, मेरी धारणा है—स्वर्ग में भी दुर्लभ होगा। आह, जालसे ! आकर देख, मैं तेरे वियोग में किम प्रकार ध्याकुल हूँ !” कहने हुए नरेन गृधाकर देव ने आंखें मूँद ली और निश्चित भाव से लेट रहे।

नागपाल व्यावहारिक जीवन में अनुभवी था। मानवीय दुर्बलताओं में भली-भांति परिचित था और समस्याओं के समाधान में—समन्वय में सम्यस्त। उसका प्रत्युत्पन्न मतिरव बढ़े-बढ़े प्रदत्तो को मुजभा देता था। समझ गया कि महाराज को मन्मथ ने आशान्न कर रखा है और उसके पाप से मुक्ति का एवमात्र विवलय है—जालसा की श्राप्ति।

उमने तिरमकोच भाव में कहा—“उमके लिए घाप इनने

व्याकुल क्यों हो रहे हैं महाराज ! आपका सेवक आज ही रात्रि में उसे आपके सम्मुख उपस्थित कर देगा ।”

“कैसे ? क्या इनकी मरलता से वह मुझे वरण कर लेगी ?”

“महाराज ! यह सारा भार मेरे ऊपर रहा । आप किसी प्रकार के विवाद-विरोध की चिन्ता न करें ।”

“और कंचन ?”

“उस स्त्री से कैसी आशंका ? उसे क्षण-भर में सदा के लिए लालसा से पृथक् कर दूँगा । विश्वास करें, आपकी लालसा-पूर्ति के लिए मैं आज ही आपकी मनोनीत लालसा को प्राप्त करके यहाँ ले आऊँगा । आप सर्वथा निर्विन्द होकर उसका उपभोग करें ।”

“तो, क्या कंचन की हत्या करोगे ? सोचो, इस प्रकार हत्या अथवा अपहरण के द्वारा हमारे ऊपर लांछन भी तो आ सकता है !” प्रजावर्ग क्या कहेगा, सभासद क्या सोचेंगे, यह भी तो विचार कर लेना है !”

“आप इस ऊहापोह में न पड़े महाराज ! समर्थ को सब कुछ क्षम्य है । रत्न की शोभा आभूषण में जटित होने में ही है, कहीं रख देने में नहीं । ठीक इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री के लिए भी सुन्दर-सम्पन्न और समर्थ पुरुष चाहिए । लालसा के लिए कंचन सर्वथा हेय है । उसके लिए आप जैसे प्रतापी पुरुष का अन्वेषण चाहिए ।”

“किन्तु यदि वह अस्वीकार कर दे, तब ?”

“इसकी तो कल्पना ही व्यर्थ है स्वामी ! सुन्दरी स्त्री सदैव महत्वाकांक्षिणी होती है । अधिकार लिप्ता उसके रोम-रोम में व्याप्त रहती है । कंचन के पास क्या है ? उसके समक्ष रहकर वह गमणी अन्तः एक नर्तकी ही तो है ! यहाँ आते ही उसकी प्रतिष्ठा और प्रतिद्धि में धरती आकाश का अंतर आ जाएगा । राजरानी

पद का लोभ और भौतिक सुविधाओं का धारणन उसे आपकी
 और मन-मन में धनुष्कन रगेगा ।”

नरेण मुपाकर देव विचार मान बैठे गीने रहे—“कही यह
 मागी कल्पना मृग-मगीनिरा मो नही मिट्ट होगी ?

नागपाल उनके घनाईन्द बो, उनकी भीरता को समझ
 गया । बोना—“और उसको घाकृष्ट करने में सबसे बड़ा महायक
 होगा आपका व्यक्तिन्द । कवन आपका पदप्राण भी तो नहीं है ।
 स्मरण करें जब-जब भी आप विदेश-यात्रा पर गए, वही कितनी
 तमसिदाँ आप पर न्योछावर होने को प्रम्नुत थी । आपकी भुजाओं
 के बन्धन में लालसा कभी पूरक नहीं होना चाहेगी, आप की भाँति
 आपकी इच्छाओं का अनुमरण करेंगी, यह मेरा घटन विश्वास
 है । उसकी मनोवृत्ति में मैं भनी-भाँति परिचिन हूँ । केवल नीन
 पहर का घवसर दे, रात को लालसा महर्ष आपकी ताम्बूल घपिन
 करेगी ।”

नरेण ने कुछ कहा नहीं, केवल मुष्कराकर रह गए । नागपाल
 ने देखा—महाराज के नेत्रों में घासा और उन्साह की ज्योति घा
 गई है और मुख पहले की घपेक्षा कानियुक्त हो उठा है ।

उमने उटकर विदा मागी और पूर्ववन् अभिवादन करके चला
 गया ।

दूसरे दिन श्योनगर की जनता ने सुना—

“बाशी के रत्नधैष्टि कचनकुमार को राजकीय की सम्पत्ति
 का दुस्पयोग करने के घपराघ में घाजीवन कारावाम-दण्ड दिया
 गया है । उनकी पत्नी, जो घभी कुछ दिन पूर्व विश्वमुन्दरी घोपित
 हुई थी, महाराज की विशेष कृपानुमार राजभवन में रहेगी । एक
 तस्वर पति की पत्नी होना; ‘विश्वमुन्दरी’-पद के लिए कलंक की
 दान थी । घन. महाराज ने राजकीय प्रतिष्ठा की सुरक्षित रखने के

लिए लालसा को अपने कर्ण में लेकर राज महिषी का पद दिया है।”

लोग चकित रह गए—यह कैसी व्यवस्था है भगवान ! कह तो कंचन का इतना सम्मान होता था।” और वहाँ एक ही रात में यह दण्ड ! फिर उसकी पत्नी को राज महिषी का पद देना !

किन्तु, इस सारे काण्ड की प्रेरणा और कार्यान्वयन की वास्तविकता के विषय में यदि किसी को कुछ ज्ञात था, तो वह था सेनापति नागपाल; वस !

लालसा को पाकर नरेश मुघाकर देव की सारी व्यथा दूर हो गई। सारा उत्ताप-सन्ताप मिट गया। विस्मृति और विक्षिप्त न जाने कहाँ चली गई ? अब वे पहले से भी अधिक स्फूर्ति, तेजस्वी और प्रसन्न दिखाई पड़ते थे। लालसा जैसी प्राण संजीवनी ने उनके रोम-रोम में उत्साह और शौर्य भर दिया था। अब वे सभा में बैठते, तो इतने जागरूक और प्रत्युत्पन्न मति होकर कि समासदों को आश्चर्य होता था।

नगर में इस घटना की आलोचना न हुई हो, ऐसा नहीं था। श्रीनगर और उसके बाहर काश्मीर की सीमा तक इसकी चर्चा हुई; किन्तु आंधी फिर भी आंधी ही तो ! अन्ततः उसे शान्त होना पड़ता है। राजा समर्थ होता है—विशेषतया सुरा-मुन्दरी के प्रसंग में। इस क्षेत्र में वह मुक्त मन से स्वेच्छाचरण करता है। महाराज पाकर देव भी इसके अपवाद नहीं थे। लालसा को लेकर वे मुक्त होकर आने लगे। उन्हें न कोई चिन्ता थी, न आशंका। उनका मन लालसा तक सीमित था। दूसरे विषयों की ओर से आँखें हटाने के बजाय एकान्त विलास पर केन्द्रित हो गए थे ! यही जीवन की साधना थी यही उसकी सार्थकता।

राज्य व्यवस्था का भार अब नागपाल के कंधों पर था।

मुग़ल देव के स्थानापन्न अथवा उत्तराधिकारी की भाँति वही सब सामन-सूत्र का संचालन करता था। नरेग निश्चल थे; और प्रश्न सोच रही थी—देखें अब क्या होता है ?

राजभवन में आकर लालसा को लेद-पश्चात्ताप नहीं हुआ। कंचन के वारावाम से वह तनिक भी विचलित नहीं हुई। ऐसी घटनाएँ उसके जीवन का अन्त बन चुकी थी। धर्म का सबसे बड़ा आधार था, उसकी इच्छानुसार अधिकार-संपन्न पद। राजमहिषी होकर वह चरम तृप्ति की सीमा पर पहुँच गई। वहाँ नर्तकी-सुधी और वहाँ वाश्मीर नरेग की रानी। कितना अंतर था दोनों स्थितियों में ! कैसा खेद और कैसा पश्चात्ताप ? कंचन की प्रपेक्षा वाश्मीर नरेग अधिक धोएँ थे—रूप में, गुण में, सत्ता में और वैभव में।

लालसा ने पहली ही रात अपना तन-मन-धन—सर्वस्व महाराज मुग़ल देव को अर्पित कर दिया। पूर्ण मन-स्तुष्टि के साथ वह नरेग के वक्ष से आनिगित होकर, उन्हीं में लम्बव हो गई। कुठा अथवा सशोक का कोई भाव उन्हे छू ही नहीं सका। समयवदा में पहुँचने ही दोनों ने एक दूसरे को आँसुओं में देखा और, विद्युत्गतियों ने आगे बढ़कर सतावृक्ष की भाँति शाशवद हो गये। जान पड़ा—जैसे दोनों युग-युगों में एक दूसरे की प्रतीक्षा कर रहे थे।

महाराज ने लालसा का चिबूक उठाकर धाहृदादमयी दृष्टि से पूछा— "लालसा मुझमें सन्तुष्ट हो ?"

उत्तर में लालसा के अदृष्ट नयनों ने उत्तर दिया— "बलवता में भी अधिक।"

एक अक्षु-सीलकार के साथ दोनों जबलप्रणयी एकात्मा हो गए।

लालसा का जीवन उस विषोद की भाँति था, जिसके अन्त

विन्दु अपना पृथक् महत्त्व रगने हैं। वे एक दूसरे की महत्ता को स्वीकार करने हुए भी अपना अस्तित्व दूसरे में लय नहीं करना चाहते एक विन्दु पर लालसा थी। वह सोच रही थी—जीवन में कितना परिवर्तन होता रहता है ! एक दिन मैंने अपनी माँ के साथ वृन्दावन के मन्दिर में नृत्य किया था। वहीं सोमदत्त से भेंट हुई। फिर उसके माय चिदम्बरम् गई। वहाँ से कंचन के साथ काशी पहुँची। काशी से निर्वासित होने पर कंचन मुझे काश्मीर ले आया, और आज मैं विश्व सुन्दरी होने के माय-साथ काश्मीर नरेश की राजमहिषी हूँ ! भाग्य कितना प्रबल होता है !

महाराज सुधाकर देव कल्पनालीन थे—आह ! सौंदर्य का यह ज्वलन्त रूप कितना भादक है ! एक ही दृष्टि में इसने मुझे धराशायी कर दिया था। जब तक यह सुन्दरी हस्तगत नहीं हुई, मैं कितना व्याकुल-विकल था। धन्य हो नागपाल ! तुमने मित्र और सेवक दोनों का कर्तव्य निभाया तुमने तो इतनी सरलता से कदाचित् मैं इस रूपराशि को नहीं पा सकता था।

और, कारागार की एक अंधेरी कोठरी में बैठा कंचन अपने से कह रहा था—जिस दिन काशी से चला था मार्ग में कहीं कोई छात्र पढ़ रहा था—‘भार्या रूपवती शत्रुः’। जान पड़ता है, वह मेरे भविष्य की ओर इंगित कर रहा था ! कितना कठोर सत्य छिपा था उसकी उक्ति में आह, सचमुच लालसा का रूप मेरा शत्रु ही सिद्ध हुआ। ओ भगवन् !

पामोद और बिहार में तीन वर्ष व्यतीत हो गए। महाराज मुधावर देव ने इन अवधि में गारे देव का अमण किया। लालसा गाय रहती थी। उन्होंने नृप्त होकर मनोरजन किया। चिन्ता प्रयत्न प्रभाव की छाया भी उन्हें नहीं छू सकी। राज-कार्य चलता रहा और महाराज यथावत् विलास-गोन रहे। वही कोई व्यक्तिक्रम नहीं, वही कोई व्यवधान नहीं। सेनापति नागपाल अपनी पूरी शक्ति से सारी व्यवस्था संभाले रहा।

मदा की भीति उस दिन महाराज जब बिहार के लिए चले। गारदीय पूणिमा थी। चन्द्रमा की अमृतमयी किरणें धरालोक को प्रकाशित कर रही थी। उनका गीतल मुखद स्पर्श प्राणिमात्र के प्रदमाद और कलाग्नि को मिटा रहा था। वायु में भी एक प्रकार की स्फूर्तिशामिनी भादक शीतलता व्याप्त थी। नीले आकाश में मनरण करना हुआ चन्द्रबिम्ब, सरोवर के राजहंस की उपमा साकार कर रहा था। शोष से भोगी रात्रि किसी सद्यः स्वाता गृन्दी की भीति रमिको को खचल कर रही थी। मन्त्र एक मुग्ध और मादकता जैसी व्याप्त थी। घातावरण इनका मनोरम था, जैसे घमगावनी की रात्रि हो।

धीनगर में एक विमल सरोवर था—'मुष्मिधु'। वही महाराज की जलश्रीहा होनी थी। जिस समय वे पहुँचे, कितनी ही

शीतल ज्योत्स्ना, मंद-सुरभित वायु, द्रासाफेन का उन्मादकारी प्रभाव और प्रेयसी को मृणाल बाहुओं का सुसदबधन । इन सबनेन रेश को मात्म-विभोर कर दिया था । उनका प्रणयी हृदय, वासना लिप्त मन, सहज विरवासी स्वभाव, निश्चिन्त उदारता और सहसा प्रवर्ती युवनी मनोवृत्ति इस समय एक साथ उन्हे प्रेरित कर रहे थे—
 “लालसा के लिए कुछ तो करो !”

अन्तर्मन को इसप्रेरणा की अवहेलना संभव नहीं थी । लालसा की तृप्ति को जानते हुए भी नरेश ने फिर कहा—“तो भी अपनी कोई कामना बनाओ । मैं वचन देना हूँ”—उन्होंने अपने वक्ष पर हाथ रखा—“यदि धरा से स्वर्ग तक वही भी तुम्हारी अभीसिप्त धम्नु का अस्तित्व होगा तो उसे लाकर तुम्हे अर्पित करूँगा । बोलो, क्या दृष्टा है ?”

“मेरे स्वामी ! ...”

“हाँ, हाँ बनाओ न ! मैं तो स्वयं उसी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।”

असम भाव में धोंगढाई लेकर, अर्घ्य निमीलित नेत्रों से बचान्ति का भाव प्रदर्शित करने हुए लालसा ने एक बार तबनी से महाराज का अघर स्पर्श किया, फिर बोली—“मुझे आपन विश्व मुन्दरी बनाया है । वह गौरव समार में एक मात्र मुझे ही प्राप्त है । तो, चाहना है कि मेरे लिए एक ऐसा भवन बनवाएँ जो अपनी गुरुदत्ता में विश्व का प्रथम और अन्तिम हो । मेरे रूप और आपने प्रेम का वह समारक जब तक रहेगा, मैं किसी भी योग्य में नहीं, आपकी समृद्धि मन्त्रों के निरन्तर उसीमें निवास करूँगी ।

“अवश्य ! तुम्हारी वह कामना दीप्त ही पूरी करूँगा, विश्वास करो । हम दोनों, इस जीवन में ही नहीं मरेंगे—इतक तक, उगी में निरवास करेंगे । विश्व मुन्दरी लालसा का भवन एसा

शीतल ज्योत्सना, मंद-गुरभिनवायु, द्रामाफेन का उन्मादकारी प्रभाव और प्रेदसी को मृणाल बाहूपों का सुगदबंधन । इन सबनेन रेश को घात-विभोर कर दिया था । उनका प्रणयी हृदय, बागना निपल मन, सहज विद्वासी स्वभाव, निश्चिन्ल उदारता और महमा प्रवर्ती धुवनी मनोवृत्ति इस समय एक साथ उन्हें प्रेरित कर रहे थे—
 “लालसा के लिए कुछ तो करो !”

मन्तमन की इसप्रेरणा की अवहेलना सम्भव नहीं थी । लालसा की तृप्ति को जानने हुए भी नरेश ने फिर कहा—“तो भी अपनी कोई कामना बनाओ । मैं वचन देना हूँ”—उन्होंने अपने वक्ष पर हाथ रखा—“यदि घरा से स्वर्ग तक वही भी तुम्हारी अभीसिप्त वस्तु का अस्तित्व होगा तो उसे लेकर तुम्हें अर्पित करूँगा । बोलो, क्या इच्छा है ?”

“मेरे स्वामी ! ...”

“हाँ, हाँ बताओ न ! मैं तो स्वयं उसी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ ।”

अलस भाव से झगड़ाई लेकर, अर्ध निमीलित नेत्रों से क्लान्ति का भाव प्रदर्शित करते हुए लालसा ने एक बार तर्जनी से महाराज का अघर स्पर्श किया; फिर बोली—“मुझे आपने विश्व सुन्दरी बनाया है । यह गौरव ससार में एकमात्र मुझे ही प्राप्त है । तो, चाहता हूँ कि मेरे लिए एक ऐसा भवन बनवाइए, जो अपनी सुन्दरता में, विश्व का प्रथम और अंतिम हो । मेरे रूप और आपके प्रेम का यह स्मारक जब तक रहेगा, मैं किसी भी योनि में रहूँ, आपकी स्मृति सजोये निरन्तर उसीमें निवास करूँगी ।”

“अवश्य ! तुम्हारी यह कामना शीघ्र ही पूरी करूँगा, विद्वाम रणो । हम दोनों, इस जीवन में ही नहीं, सदैव—प्रलय तक, उसी में निवसाम करेंगे । विश्व सुन्दरी लालसा का भवन ऐसा

॥ जिसकी समस्त विभी मुझ में न ही मरदा ॥ ...
 दस दुःखों का बंधन तो ही तुम्हो दयावा में भग्न प्राणदा ॥
 दान दान कथन की पृथि के विषय दोनों प्रदारी एव दूध के
 ॥१॥ पर दान समस्त का विषय दान करने लगे ।
 समस्त अहम धर्म भी विद्वान् राजा या दोर नदी की घास
 'न दान' श्रेणी दान ॥ पर धर्मों का रही भी ।
 नरेन न भूदरी प्रजाई । पर लोभने का नरेन पा । माँभी ने
 नारा गुमाई दोर नदी का दोर मरने लगी ।

पवित्र मन्त्र का सुचचार
 गो-री का सावाचन सम्भीर पा । राज्य के पवित्र वरिष्ठ
 धर्मिचारी घोर महाराज गुणावर देव बँडे स्मारक-निर्माण की
 योजना पर विचार कर रहे थे । एक प्रकार का विनाशक्य घोषणा
 लाना हुआ था । मन्त्री राजदण्ड का बंधन था --
 "महाराज ! कोशाधिकारी डांग प्रभुन विवरण में ऐसा
 धाभाग मिलता है कि दान समय राजकोष में पर्याप्त पन नहीं है ।
 स्मारक निर्माण में विशेषज्ञों ने श्रेणी रूप देना बनाई भी उसके
 अनुसार कम से कम सात करोड़ मुद्राएँ प्रतिक्रमं व्यय होंगी घोर
 स्मारक पूरा होने में पवित्र धर्म प्रयत्न कम जायेंगे । विमान्यास में
 ही तीन करोड़ की धनगति व्यय हो चुकी है । अतः राजकोष की
 पूर्ति का प्रयत्न पूर्ण होना चाहिए, अन्यथा स्मारक-निर्माण में
 होना धुन विच्छिन्न है ।"
 गो समूह करने के उपायों पर विचार होने लगा तो
 नाइय में सुभाव दिया— "महाराज ! या तो प्रजा
 को करने के लिए विषय किया जाय, या फिर दास-
 को कम कर दिया जाए । घोर भी एक विवरण है—नई

मुद्रायें प्रचलित कर दी जायें।”

सेनापति नागपाल ने इसका प्रतिरोध करने हुए कहा—“यह तीनों विकल्प व्यावहारिकता के विरोधी और सर्वथा एकान्गी हैं। इनका प्रभाव राजसभा की प्रतिष्ठा पर हानिकर रूप में पड़ेगा। मेरी तो सम्मति है—किसी राज्य को अपने अधीन कर लिया जाय तो घन-जन की सारी समस्या सुलभ जाएगी।”

महाराज ने देखा—मन्त्री जी नागपाल की वीरदूर्पोक्ति का विरोध कर रहे हैं—“अनारण युद्ध का आह्वान बुद्धिमत्ता नहीं बही जाएगी।”

नागपाल का मनोबल और उत्साह यथावत् रहा। उसने बिना तनिक भी कूटितन हुए उत्तर दिया—“मन्त्रीवर युद्ध तो राजाघो का धर्म है, व्यसन है दिनचर्या है। फिर, राज्य विस्तार के लिए, राज-कोष की वृद्धि के लिए तो वह शास्त्र मंगल है। आप स्वयं बहा परते हैं—‘तुष्येन्न राजा घनमचयेन।’ तब किसी प्रकार के मनो-मयन की क्या आवश्यकता? महाराज आप आज्ञा दीजिए, नागपाल विजय थी लाकर आपके चरणों में प्रस्तुत कर देगा।’ बहने-कटन अदम्य उत्साह और अद्विग्य आत्मविश्वास से उसके नेत्र अमूर्च्छित हो उठे, लूणीर बसमसाने लगा और हाथ स्वन लक्ष्म की मूट पर जा पड़ा।

“घन्य हो वीरवर ! मैं तुम्हारे साथ ही तुम्हारी राजधर्मिता की और तुम्हारी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करूँगा। आजघो मरी स्वीकृति है—मेना सज्जन करो। मैं भी तुम्हारे साथ चलूँगा।

राज-भर में ही युद्ध का आयोजन ! सभासद अकिंच नृत्त ! एक अज्ञान राजा-जैसी भावना उनको अस्त करने लगी—पना लगी युद्ध विमर्श के साथ ही और उसका क्या परिणाम हो ?”

सभी ने पछा—“महाराज ! क्या यह उचित होगा कि

सोग भी उम राज्य का नाम जान लें, जिनके विरुद्ध हमें शंखनाद करना है। जिनमें, कभी उम देग का कोई गुणचर हममें छल न कर सके।”

महाराज ने नागपाल से पूछा—“सेनापति हमें कहीं के लिए प्रस्थान करना होगा ? किमी राजधानी को लक्ष्य बनाया ?”

“महाराज ! सबसे निकट मालव ही एक ऐसा राज्य है जो जनशक्ति में कम और धन शक्ति में सर्वाधिक है। मैं उसी पर आक्रमण करने की आज्ञा चाहूंगा।”

“मालव ? तो क्या मालव नरेग की शक्ति से परिचित हो ?” नरेग मुघाकर देव ने सेनापति से पूछा।

“महाराज !”—नागपाल बोला—“शक्ति का परिचय युद्ध-क्षेत्र में होता है। आप निद्वन्द्व मन से मुझे जाने की आज्ञा दें। काश्मीर की विजय-पताका मालव राजधानी में अवश्य लहरायेगी।”

“ठीक है। चलो, मैं भी युद्ध में चलूंगा। जाकर इसी समय सैन्य-व्यवस्था आरम्भ कर दो। परमों प्रभात में प्रस्थान करेंगे।”

नागपाल ने नतशिर होकर आज्ञा स्वीकार की और अन्य सभ्य गण भी इसी को उचित-निश्चित समझकर अपने-अपने स्थान की ओर चल पड़े।

नागपाल सैनिक केन्द्र की ओर चला और महाराज घन्टपुर की ओर। उनका विचार था—“इस बार युद्ध में लालसा की भी साथ रखूंगा। मेरा मनोबल अक्षुण्ण रखने में वह सहायक सिद्ध है।”

घनघोर युद्ध हुआ। वीर मालवों ने ग्यारह दिन तक शत्रुसेना

का गज्य सीमा पर ही अग्रगण्य रणा । दोनों दलों के अग्रगण्य गुर-
 वीर मारे गये । रक्त की घाग बह चली । योधाघो घोर हाथी-
 घोड़ी के विशिष्ट धंगों पर गीघ-कुत्तों का कोयाहन, पगलाघो
 घाहों का चीकार घुड़ मोचुवों की गरंजा घोर विभिन्न प्रकार
 के अग्र-अग्रों की अग्र अग्रि ने यानाअग्र को अग्रधिक गौड-
 वीअग्र रूप दे दिया था । उग मृग्युधोत्र में पिनाअं की भीति
 उन्नत जैसे मद्रुं वीरों का घोष देगकर जय पगअग्र का निअग्र
 करना कठिन हो गया था । मानक वाहिनी कम होकर भी मगकर
 और कुगल थी । कादमीर-मेना उमकी अग्रेशा जिअग्र और अग्र-
 अग्र होती जा रही थी । फिर भी वह घुड़गल थी, क्योंकि सेनाअति
 नागपाल और महाराज मुधाकर देव दुषंघ रूप धारण किये हुए,
 घूम-घूमकर उसे नियंत्रित कर रहे थे ।

बारहवें दिन का घुड़ अग्रन्त अग्रकर था । नागपाल ने अपने
 बन-बोगल से मालव सीमा का घेरा लोड दिया और रक्षाअति का
 अतिअग्र करके अपनी सेना को राजधानी की प्राचीर तक पहुँचा ले
 गया । नरेश मुधाकर देव उमके इस अग्रम्य वेग और अग्रभुत परा-
 अग्र से बहुत अग्रन्त हुए । उसकी रक्षा के लिए घेँ छाया की भीति
 साय-साय चल रहे थे और उनकी छाया का अग्रगमन कर रही थी
 नाचसा वह सदैव रथ पर बैठी अपने अग्रतम की विजय-कामना
 करती रहती थी ।

कादमीर सेना का अग्रेश मालवों को पद अलग जैसे दुखद और
 अग्रमानअनक प्रतीत हुआ । वे अग्रुष्य हो उठे । प्राणों का मोह न
 जाने कहीं चला गया ? तन-मन से विअग्र अग्रण के लिए कठिअग्र
 हो गए । दोनों सेनाओं का स्वाअिमान अपनी रक्षा में अग्रणण से
 अग्र हो गया ।

कादमीर-मेना सोच रही थी—इतनी दूर से आकर और

गीमा को छूने-छूते भी यदि विजय न मिले, तो हमें चिक्कार है।

शौर, मानव सेनापति हुंकार रहा था—‘दुमरे राज्य के सैनिक हमारे घर के भीतर घाकर हमें परास्त कर दें, तो मालव घरती रमातल को चली जायेगी। इतना बड़ा बलक हम नहीं महन करेंगे।’

दोनों दलों के सैनिक काल की भाँति क्रुद्ध होकर एक दुमरे पर टूट पड़े। अब उनके हाथ और अस्त्र-शस्त्र ही नहीं, मन-मस्तिष्क भी युद्ध रत हो गए थे। क्योंकि प्रश्न जय-पराजय का नहीं, स्वत्व और सम्मान का था। वंश-गौरव की रक्षा के लिए वे अपने रक्त को तुच्छ समझकर, परस्पर प्रहार करने लगे। उनको चिंता थी तो अपनी माँ के दूध की, अपने राज्य की स्वतन्त्रता की और अक्षय-कीर्ति के वरण की।

जैसे ही युद्ध आरम्भ हुआ, वर्ग और व्यवस्था का प्रतिबंध टूट गया। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल के सारे समूह एक दूसरे में समा गए। प्रलय का सा वह युगान्तकारी दृश्य काश्मीर और मालव दोनों सेनाओं के लिए अश्रुतपूर्व था। आकाश में धूल और घरती पर रक्त। युद्ध क्षेत्र का कोलाहल दैत्यों को भी रोमांचित कर देने वाला था। सर्वत्र चीत्कार, लाछन, प्रोत्साहन, खट्-खट्, और धायें-धायें।

दिन भर यही स्थिति रही। दोनों पक्ष क्रमशः प्रबलतर होते-होते। निर्णय संदिग्ध हो गया था। मध्याह्न बेला पार हो चुकी थी। दोपहर बीत चला और चौथा भी अपनी सीमा की ओर बढ़ने लगा। मालव वीर अदम्य बेंग से लड़ रहे थे और शौर उन्हें परास्त करने का मनोरथ-प्रयास कर रही थी। अन्तिम समय निकट देखकर दोनों पक्ष और भी अधिक रक्त-हो उठे थे। वे तुरन्त और निश्चित परिणाम के लिए

इतने उन्मुख थे कि धन-विधान होकर भी, सामर्थ्य विरह में दिग्गता रहे थे ।

टीक दिनान्त के समय रघुनाथ महाराज गुफाकर देव देना—मेनापति नागपाल के बण्डभाग में एक बाण धाकर पं पया है । जैसे ही वह 'घाह' बरके निघिल होता है दूमरा वा उसके मुँह में धार-धार प्रविष्ट हो जाता है । अमात्य वेदना धातुल नागपाल धराधापी हो गया है और उन्मत्त अन्वारोहि के पदाधान से उसकी निर्जीव शया छिन्न-भिन्न हो गई । बाहवीर मेना, नायक के अभाव में पलायन करने लगी है । मानव-दल विजय-नाथ से हुँकार करता हुआ मुझे घेरने के नि मन्त है ।

इम रोमांचकारी दृश्य ने उनका सारा मनोबल भग कर दिा नागपाल उनका सेवक, सैनिक मत्री और मित्र सब कुछ उसी के बल पर इतने निश्चिन्त-निर्द्वन्द्व रहने थे । उसकी मृत्यु उन्हें पशु कर दिया । आशा और उत्साह क्षीण हो गया । बला और आशा ने उन्हें मलिन कर दिया । विजय की आका निर्जीव हो गई । सामने मालव दल हुँकार रहा था । आत्मरक्ष के लिए पनायन के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं था । घूम पीछे बँटी लालसा की ओर देखा और पूछा—

“कव ?”

मुद का वह बीभत्स और भयकर दृश्य लालसा के जीवन का पहला अनुभव था । नागपाल की दारुण मृत्यु देखते वह शोक और भय के कारण इतनी व्याकुल हो गई थी कि उस तक विकृत हो गया था । सारी कान्ति, सारी श्ी न जाने ; चली गई थी । उसका मुख इतना निस्तेज और पाण्डु हो गया जैसे किसी यक्षमाप्रस्त बेत्या का सब हो । महाराज के प्रश्न

घाने को सिंगी प्रहार मदन काके पर केंद्रा इतना ही पर
 गरी—“हे भगवान् !” और घागरी के गहारे मुद्रा गरी ।

गारी शक्ति मगाकर मुपाकर देव ने रथ घाने बड़ने का
 प्रयाग किया । विजय की घाना नहीं थी, फिर भी पर भागना
 गरी घाने थे । पर गम्भव भी नहीं था, पारी घोर में मानवों
 में उन्हें परकृत में पंजा किया था । मय दनादन का कर्तक क्यों
 गी ? जीवन की गारी घागाघों घोर घागाघों को विदा करने
 हुए उन्होंने मृगु का घाहान किया घोर घनिम प्रयाग के रूप
 में घानी मेवा को ममकारने मने—“मेरे धीमे ! पीछे की घोर
 मय देना ! उपर पराजय है, पूजा है । घाने बड़ो ! वहाँ मृत्यु है,
 सिन्धु विजय का गौरव भी है । काश्मीर को कनविन न करता ।
 युद्ध क्षेत्र को मृत्यु तो विजय से भी श्रेष्ठ होती है । धनो, इना का
 परण करो ।” और स्वय घपने रथ को घोटा-मा घाने बड़ा दिया ।

सेविन यह सारी घेष्टा व्यर्थ थी । ठीर सूर्यास्त के समय
 मानवों ने उन्हें परकृ लिया । मानमा भी उन्ही के साथ बन्दिनी
 बनाई गई । मेना का साहस, नागपाल के साथ ही ममापन हो चुका
 था । घपने महाराज को बन्दी होने देतकर वह हतास हो गई । कुछ
 सैनिक भाग गए, कुछ ने घात्म-ममरण कर दिया । ठीर गौधूवि-
 वेला में मालव सेनापति, विजय-घोष करता हुआ राजधानी को
 घोर लौटा; जहाँ नागरिकों का समूह जयजमकार करता हुआ
 उराकी प्रतीक्षा कर रहा था ।

उस रात—

-मालव सेनापति सोच रहा था—भव एकाएक कोई मेरी
 को छूने की कल्पना नहीं करेगा । काश्मीर सेना की
 घातकित करती रहेगी ।

क्षेत्र में बन्दी हुए काश्मीर सैनिक सोच रहे थे—न जाने

किसने हमारे महाराज को इस युद्ध के लिए प्रेरित कर दिया ? वे तो सदैव ध्यानन्द-विहार में मग्न रहने वाले थे ! इस नर-संहार और पराजय का बलक प्रस्तुत करने में, निश्चय ही किसी का पङ्कज्य रहा होगा ।

युद्ध-शंख में नागपाल का प्रेत अपने बिलसे हुए अस्थिपजर के चारों ओर मँडराना हुआ फिर धुन रहा था—आह ! कैसा विडम्बनामय घन्ट हूँ मैं ! महाराज मेरे बाहुबल पर निश्चिन्त रहने थे; पर मैं इस युद्ध में उन्हें विजय-गौरव न दे सका । मेरी मृत्यु के पीछे, न जाने क्यों, महाराज तनिक देर भी ध्यानरक्षा न कर सके । और महारानी भी बन्दिनी हुई । आह ! जिन महारानी की कामना पूर्ति के लिए महाराज ने यह युद्ध ठाना, वे भी दम्बुषों के शिबिर में पड़ी हैं । बाल ! सचमुच तू बड़ा प्रबल है । मेरे विधान के विपरीत कोई नहीं जा सकता ।

और,

मानव-मैत्रिकों से घिरे हुए बन्दी-शिबिर में बास्मीर नरक महाराज मुखावर देव अपनी प्रियतमा लालसा को घबराय विष, विचार मग्न थे—हा हन्त ! क्या प्रेम का प्रदलन या और कामनाओं का यही घन्ट होता है ? मर प्रति क्या सुभ यही घभीष्ट था ? दुर्देव ! सुभसे दुर्नी ईष्यो क्यों है ? क्या मानव राज्य का महत्त्व लालसा की लालसा से भी अधिक था । निश्चय ही तू घन्यायी है । महार का साग दर्शनम मारा विराध एक मात्र मेरी दुर्नीति के कारण ही होता है । कुछ भी हा तू सुभ पराजित नहीं कर मरा । लालसा ही मेरे जीवन का महत्त्व और ध्य भी । वह मेरे पास है, तब सुभे कोई अभाव नहीं । मर्त्या भी ना उम्क घानिगत में । उन्हीने भावावेग में, लालसा का बिबुध उठाया । वह बिन्ता और क्यानि के कारण, अनिदाय सिधित भाव में पड़ी थी ।

धनगार्द, धनगुंदी घागों से एक बार दीपक के क्षीण प्रकाश में, शिविर की घोर देगा; फिर पूर्ववत् शान्त हो गई।

महाराज ने एक दीप निःशवाग छोडा—घाह! कितनी करण, कितनी दयनीय दगा है घाज इसकी! संध्या तक जो, विश्वमुन्दरी घोर काश्मीर-महिषी थी, इस समय युद्ध-बन्दिनी हांकर, शत्रु शिविर में पड़ी हुई है!

धनगार्द ने उन्हें विह्वल कर दिया। न जाने कहां का वैराग्य घोर मोह उनके मानस को भ्रंभोड़ने लगा। एक क्षण को उन्होंने लालसा की घोर अपलक दृष्टि से देगा; फिर न जाने किम प्रेरणा से उसके अघरो को चूम लिया।

लालसा ने घागें खोल दी। देगा—महाराज के अघर प्रणय-सन्देश—रुदाचित् अन्तिम सन्देश—कह रहे हैं, इस अकल्पित विपत्ति में भी उनका प्रणय-भाव मलिन नहीं हुआ। उनके नेत्रों से अघ भी वही अनुराग और विश्वास भांक रहा है।

जैसे निर्वाण के पूर्व दीपक की लौ प्रज्वलित हो उठती है, उमी प्रकार अस्तोमुख लालसा ने परम-विह्वल होकर कहा—“स्वामी!” और, महाराज को अपनी बांहों में बांध लिया।

शोक और मोह, खेद और सन्तोष तथा जय और पराजय से अभिभूत नरेश सुधाकर देव की विचार शक्ति ने, फिर साथ नहीं दिया। लालसा का सम्बोधन सुनते ही उनका विलासाकुल मन अधीर हो उठा। उन्होंने सारी चिन्ता, सारा पश्चात्ताप भुलाकर लालसा को उठाकर वक्षस्थ कर लिया और अघर-सम्पुटन के द्वारा उसमें तदाकार होने का प्रयास करने लगे।

शिविर के बाहर, रक्षार्थ नियुक्त सैनिकों का दल परस्पर बातें कर रहा था। वे लोग अपनी विजय और काश्मीर की पराजय का उपहास किन शब्दों में कर रहे हैं; इसे न सुधाकर देव ने सुना, न

लालसा में। वे सर्वथा अचेत और निश्चिन्त, जैसे, अपनी प्रणय केलि में मग्न थे। शिविर के ऊपर पंख फड़फड़ाकर चीत्कार करते हुए निशापंक्षी का स्वर भी उन्हें प्रभावित नहीं कर सका। लगता था—अखिल विश्व का अस्तित्व शिमटकर उसी शिविर में आ गया है, और मृष्टि में केवल दो प्राणी शेष हैं—सुधाकर देव, और लालसा।

गदगद 'साराइ गारा' बोलते न एक बार मन्ना की घोर
देवदार बतः प्रायः दण्ड-दण्डमन्ना बरों ।'

मेनारपीत मन्ना हो गया । गदगदगद होकर बोला — "मन्ना
की जग मन्नागद ।"

"पत्नी उन्मत्त की पत्नी उन्मत्त बरों ।"

गदगद भया गया ।

थोड़ी देर बाद मोनोने देगा — इतरीग मन्ना मन्ना की घोर
में, लोह भूमिगाधों में दण्ड-दण्ड कास्मीर नरेग घोर उन्नी त्रियन्ना,
नगे पत्नी घोरों रते हैं । उनका रात्रगी वेग-विन्नाम रिन्त हो
गया है । धामुपत्नी में धनरत्न रत्ने बागे उनके शरीर साधारण
मनुष्यों की भाँति दो-दो पत्नी में डके हुए हैं, बग ! मृग मन्निन है,
भाँति नष्ट हो गई है, मन्नाक पर विन्ना की रेसापें उभरी हुई है
घोर नेव इतने निम्नेज हो गए हैं, जैसे उनसे बडकर निराश्रित घोर
मन्नाय ध्वनि समार में दूगरा नहीं है ।

राजा वीरसेन जितने वीर और स्वाभिमानी थे, उतने ही जोषी
भी । द्वेष का भाव उनमें प्रबल था । उन्हें स्मरण हुआ—बारह वर्ष
पूर्व इन्ही मुधाकर देव ने तक्षशिला में मुझे चन्द्रवारोहण में परास्त
रके था । कहा था । आज बताऊँगा कि कायर कैसा होता है !

ने सभासदों को सम्बोधित करके कहा—

“यद्यपि एक राजा को दूसरे के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिए। मतभेद होते हुए भी उन्हें पारस्परिक प्रतिष्ठा एवं मुक्त-मुविधा का ध्यान रखना अनिवार्य है। किन्तु, काश्मीर राज्य कर्तव्य भ्रष्ट हो गया है। उसके शासक का विवेक नष्ट हो चुका है। उसने राजनीति के नियमों का उल्लंघन किया है”।

सभासद साँस रोके सुन रहे थे।

वीरमेन ने धीमे कहा—“काश्मीर और मानव में इधर कोई मुद्दा-वैमनस्य का वातावरण नहीं था, फिर भी अकारण ही ऐसा किया गया। हमारे सबबों में कटुता लाने का मूल अग्रगण्यी काश्मीर-सेनापति नागपाल था। उसका अस्थि-पत्रर मुद्दा-क्षेत्र में विस्तार पडा है। उसका साथ यह राजा मुधाकर देव भी अपनी औनुप प्रवृत्ति के कारण सारे काश्मीर में वृद्धवान है, अग्रगण्यी भी है। मैं इनको राजोचित सम्मान इमनिष्ठा नहीं दे रहा कि इन्हीं अग्रणी वंश-प्रतिष्ठा को निवारण देकर एक दृष्ट्यापत्री की सामना स्वीकार की है और अर्थात्-भाद में उसके हाथ पर दूसरे राज्या की शक्ति भंग करने के लिए सम्मत् हो गए हैं।

नरेण मुधाकर देव और मानसता की हृदय-गति यह गई। अग्निक पर रनेह-विन्दु भलक धाय और दृष्टि अपनी पर बहिष्कार हो गई।

वीरमेन कह रहे थे—“ता मरी दाँट में तगा पतित और कृषिकानी ध्यवित नरक जान योग्य नहीं है। काश्मीर का धार-रक्षणता है महाराज यदावत् जैसे विचारवान की। मीनकत् और मुधाकर देव जैसे विस्मयी और दृष्ट्यापत्री की नहीं। उस अनाचारी शासक पर, अकारण ही सहस्य मानव-वीर्य की ह-ता का आरोप है; अतः अपनी सभा के निरालानुसार में हमें अर्थात् अग्रणी दृष्टि धोपित करता हूँ। साथ ही हमें यह विद्व-मुद्दनी

पत्नी भी दण्डित होगी जो इसके पतन का मूल कारण रही है।”

लोग रोमांचित हो उठे। कहीं काश्मीर नरेश, कहीं विश्व-सुन्दरी और कहीं मृत्यु-दण्ड ! किन्तु कोई क्या करता ? कर भी तो नहीं सकता था ! सबके सब मौन भाव से आगामी क्षणों की और उनमें होने वाली घटनाओं की कल्पना कर रहे थे।

“सहदेव !” राजा वीरसेन का स्वर फिर गूँजा।

“आज्ञा दीजिए महाराज !” सेनापति ने हाथ जोड़ दिये।

“ले जाओ, इन दोनों अपराधियों के भार से मालव धरती को मुक्त करो।”

सहदेव ने मस्तक झुकाकर आज्ञा स्वीकार की और सैनिकों को संकेत दिया—“चलो।”

लौह शृंखलाएँ भनभना उठी। सैनिकों का घेरा द्वार की ओर उन्मुख हुआ, निर्णय देकर राजा वीरसेन अन्तःपुर की ओर चले गये। सभासदों में कुछ लोग सैनिकों के साथ चले, कुछ वहीं बैठे, इस घटना पर टीका-टिप्पणी करते रहे। सुधाकर देव और लालसा का मनोमथन समाप्त हो गया था। उन्हें न कोई खेद था, न राग। अपने इस अपरिवर्तनीय अंत का आभास उन्हें पहले ही हो गया था। अतः वे उसे वरण करने को सहर्ष प्रस्तुत थे। सैनिकों के साथ निरह्वेग मन से चलते रहे।

वधभूमि पहुँचकर सहदेव ने वधियों से कहा—“गर्त !” और वधियों ने तत्क्षण दो गर्त बना दिये।

दर्शक स्तब्ध थे।

वधियों ने सेनापति की आज्ञानुसार दोनों गर्तों में सुधाकर देव और लालसा को आकण्ठ गाढ़ दिया। पर वे विचलित नहीं हुए।

मुख पर इतनी शान्ति थी, जैसे कोई योगी समाधि में प्रवेश करे।

दण्डों की दृष्टि में ही वे इन्के पक्ष का मूल कारण रही हैं।
शोक संवर्धित हो उठे। बड़ी शान्ति के नैन, बड़ी हित
सुन्दरी धीरे धीरे नष्ट-व्यथ ! किन्तु क्यों बना बनना ? कर ही
की नहीं गहका था ! मरने का ही नैन नैन के धारणों की ही
धीरे उनमें हीने शान्ति पट्टाओं की बनना कर रहे थे।

“महदेव !” राधा शीघ्रता का मर दिर हुआ।

“आज्ञा दीजिए, महाशय !” नेत्रादि ने हाथ जोड़ दिये।

“मे आशा, इन दोनों धर्मार्थियों के मर के मानव धर्मों
की मुक्त करो।

महदेव ने मन्त्रक मुखाकर आज्ञा स्वीकार की और सैनिकों
को मवेत दिया—“बनो।”

लौह शृमन्तारों बनना उठी। सैनिकों का घेरा द्वार की
धोर उन्मुख हुआ, निरांग देकर राधा वीरसेन अन्तपुर की ओर
चले गये। गभामदों ने कुछ नोग सैनिकों के साथ चले, कुछ वहीं
बैठे, इस घटना पर टीका-टिप्पणी करते रहे। सुधाकर देव और
सालसा का मनोमयन समाप्त हो गया था। उन्हें न कोई खेद था,
न राग। अपने इस अपरिवर्तनीय अंत का आभास उन्हें पहले ही
हो गया था। अतः वे उसे वरप करने को सहर्ष प्रस्तुत थे। सैनिकों
के साथ निरद्वेग मन से चलते रहे।

वधभूमि पहुँचकर महदेव ने वधियों से कहा—“मर्त !” और
वधियों ने तत्क्षण दो मर्त बना दिये।

दर्शक स्तब्ध थे।

वधियों ने सेनापति की आज्ञानुसार दोनों मर्तों में सुधाकर देव
और सालसा को आकण्ठ गाड़ दिया। पर वे विचलित नहीं हुए।

मुख पर इतनी शान्ति थी, जैसे कोई योगी समाधि में प्रवेश
रही।

